रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)

वर्ष: २१ अंक: २
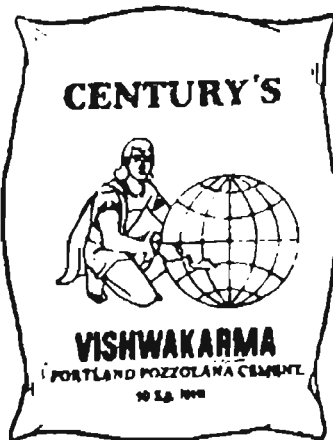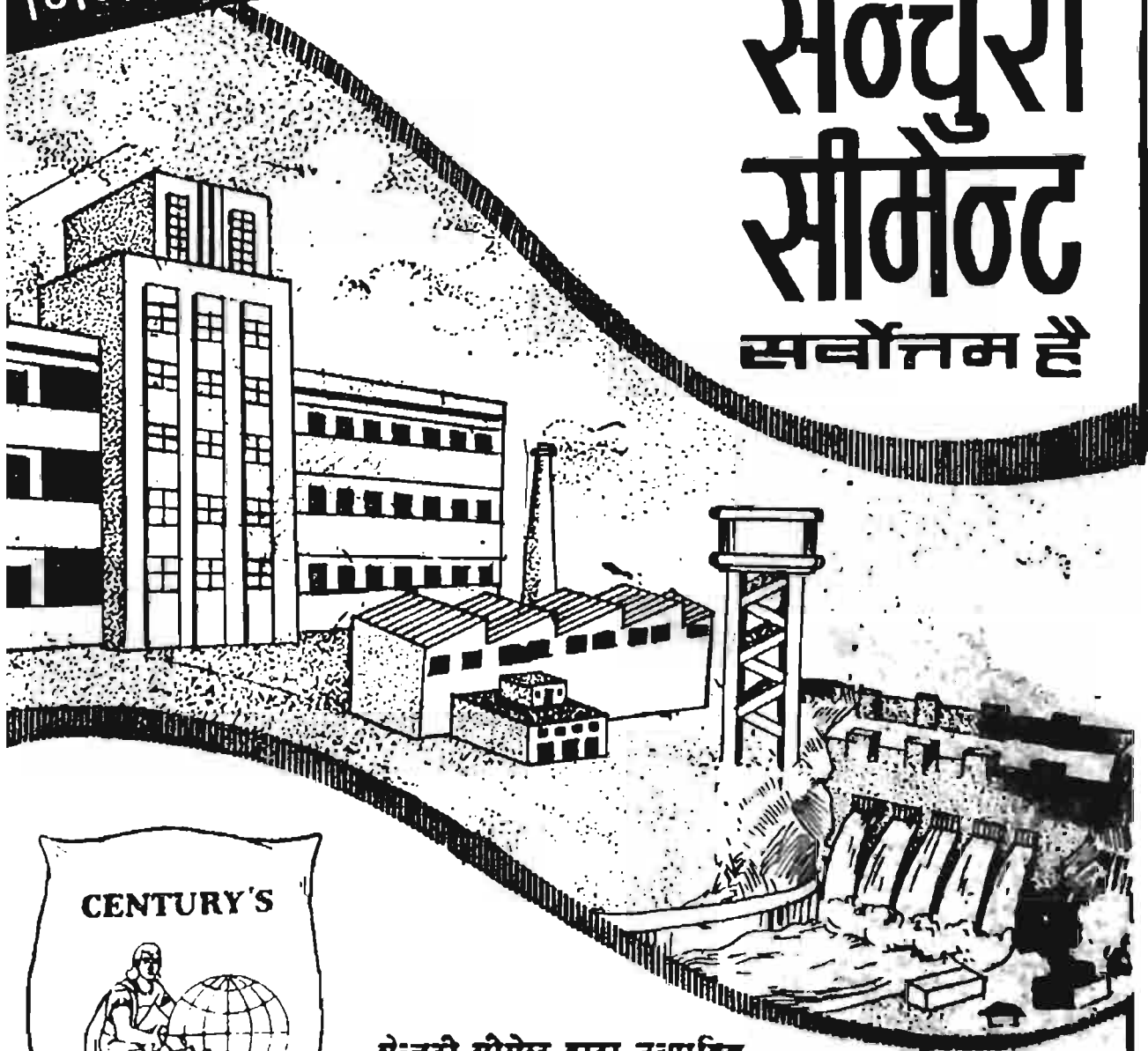
Dakhole

निर्माता- सेन्चुरी सीमेन्ट
पो. आ. बैकुण्ठ - 493116 जिला: रायपुर (म. प्र.)
टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम 'CENCEMENT'
फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल–मई–जून

* १९८३ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रणस्थल : सरस्वती प्रेस, डीग गेट, मथुरा—२८१००१ (उ० प्र०)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २१] अप्रैल–मई–जून [अंक २

※ १९८३ ※

भय का कारण

यदा कदा वापि विपश्चिदेश
ब्रह्मण्यनन्तेऽप्यणुमात्रभेदम् ।
पश्यत्यथामुष्य भयं तदैव
यद्वीक्षितं भिन्नतया प्रमादात् ॥

—जब कभी यह विद्वान् अनन्त ब्रह्म में अणुमात्र भी भेद-दृष्टि करता है, तभी इसको भय की प्राप्ति होती है; क्योंकि स्वरूप के प्रमाद से ही अखण्ड आत्मा में भेद की प्रतीति हुई है ।

—बिवेकचूड़ामणि, ३३१

अग्नि-मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

लन्दन,
१० अगस्त, १८९९

अभिन्नहृदय,

तुम्हारे पत्र से बहुत समाचार विदित हुए। जहाज में मेरा शरीर ठीक था; किन्तु जमीन पर उतरने के बाद पेट में वायु की शिकायत होने के कारण कुछ खराब है। यहाँ पर बड़ी गड़बड़ी है— गर्मी के दिन होने के कारण मित्र लोग भी बाहर गये हुए हैं। इसके अलावा शरीर भी साधारणतया ठीक नहीं है एवं भोजन आदि के विषय में भी बहुत सी असुविधाएँ हैं। अतः दो-चार दिन के अन्दर अमेरिका रवाना हो रहा हूँ। श्रीमती बुल को हिसाब भेज देना—जमीन, मकान तथा भोजन इत्यादि पर कितना खर्च हुआ है, प्रत्येक विषय का विवरण पृथक् पृथक् हो।

सारदा ने लिखा है कि पत्रिका अच्छी प्रकार से नहीं चल रही है। मेरे भ्रमण-वृत्तान्त को पर्याप्त विज्ञापन देकर छापें तो सही—देखते देखते ग्राहकों की बाढ़-सी आ जायगी। पत्रिका के तीन-चौथाई हिस्से में केवल सिद्धान्त की बातें छापने से क्या वह लोकप्रिय हो सकती है ?

अस्तु, पत्रिका पर सतर्क दृष्टि रखना। समझ लेना कि मानो मैं चल बसा हूँ। यह समझकर तुम लोग स्वतन्त्रता के साथ कार्य करते रहो। 'रुपया-पैसा, विद्या-बुद्धि सब कुछ दादा पर निर्भर है'—ऐसा समझने से

सर्वनाश निश्चित है। यदि सब धन, यहाँ तक कि पत्रिका के लिए भी, मैं एकत्र करूँगा, लेख भी मेरे ही होंगे, तो फिर तुम सब लोग क्या करोगे ? फिर अपने साहब लोग क्या कर रहे हैं ? मैंने अपनी भूमिका अदा कर दी है। तुम लोगों से जो बने करो। वहाँ न तो कोई एक पैसा ला सकता है और न प्रचार ही कर सकता है, अपने ही कार्य को संचालित करने की बुद्धि किसी में नहीं है, एक पंक्ति भी लिखने में कोई समर्थ नहीं है एवं बेकार ही सब लोग महात्मा हैं।. . .तुम लोगों की जब यह दशा है, तब तो मैं चाहता हूँ कि छः महीने के लिए कागज-पत्र, रुपये-पैसे, प्रचार इत्यादि सब नवागतों को सौंप दो। वे भी यदि कुछ न कर सकें, तो सब बेच-बाचकर जिनके जो रुपये हैं, उन्हें उनकी रकम वापस कर फ़कीर बन जाओ। मठ का कोई समाचार मुझे नहीं मिलता है। शरत् क्या कर रहा है ? मैं कार्य चाहता हूँ। मरने से पहले मैं यह देखना चाहता हूँ कि आजीवन कष्ट उठाकर मैंने जो ढाँचा खड़ा किया, वह किस प्रकार चल रहा है। रुपये-पैसे के प्रत्येक मामले में समिति से परामर्श कर लेना। प्रत्येक खर्च के लिए समिति की स्वीकृति प्राप्त कर लेना। नहीं तो तुम्हें बदनामी मोल लेनी पड़ेगी ! जो लोग रुपये देते हैं, वे एक न एक दिन हिसाब अवश्य जानना चाहेंगे—ऐसी ही रीति है। हर समय हिसाब तैयार न रखना बहुत ही खराब बात है।...प्रारम्भ में ऐसी शिथिलता से ही लोग बेईमान बन जाते हैं। मठ में जो लोग हैं, उनको लेकर एक समिति का गठन करो और प्रत्येक खर्च के लिए उनकी स्वीकृति ली

जाय, उसके बिना कोई भी खर्च नहीं किया जा सकेगा। मैं कार्य चाहता हूँ, उद्यम चाहता हूँ—चाहे कोई मरे अथवा कोई जिये ! संन्यासी के लिए मरना-जीना क्या है ?

शरत् यदि कलकत्ते को जाग्रत न कर सके....तुम यदि इस वर्ष के अन्दर बुनियाद खड़ी न कर सके तो देखना कैसा तमाशा होगा ! मैं कार्य चाहता हूँ—किसी प्रकार का पाखण्ड नहीं। परमाराध्या माताजी को मेरा साष्टांग प्रणाम।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

●

श्रीरामकृष्ण की बोधकथा

एक चाण्डाल कसाईखाने से मांस की टोकनियाँ ले जा रहा था। पवित्र गंगाजी में स्नान कर श्री शंकराचार्य लौट रहे थे। रास्ते में उनकी भेंट चाण्डाल से हो गयी। संयोगवश शंकराचार्य के शरीर से चाण्डाल का स्पर्श हो गया। शंकराचार्य नाराज हुए और उन्होंने जोर से कहा, "अरे, तूने मुझे छू लिया !" चाण्डाल ने उत्तर दिया, "महाराज ! न मैंने आपको छुआ, न आपने मुझको ! कृपया मुझसे तर्क कीजिए और बताइए कि आपका आत्मा शरीर है, या मन है अथवा बुद्धि; बताइए आपका सच्चा स्वरूप क्या है। आप जानते हैं, आत्मा का प्रकृति के तीनों गुण सत्त्व, रज, तम से कोई सम्बन्ध नहीं।" यह सुन शंकराचार्य लज्जित हुए और उन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ। ●

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

स्वामी भूतेशानन्द

पहला प्रवचन

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके उन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उदबोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुमति के लिए हम उद्बोधन कार्यालय के आभारी हैं।

यह हिन्दी अनुवाद श्रीराजेन्द्रतिवारी ने बड़ी भक्ति और निष्ठा के साथ करके हमें दिया है। वे सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं।—स०)

'श्रीरामकृष्णवचनामृत' ग्रन्थ से हर बार थोड़ा सा अंश हम लोग पढ़ेंगे और उसे समझने की चेष्टा करेंगे। आज 'वचनामृत' के प्रथम भाग के प्रथम खण्ड से आरम्भ करते हैं। वैसे तो कहीं से भी आरम्भ किया जा सकता है, क्योंकि 'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते'—आदि, मध्य, अन्त सभी स्थानों में भगवान् की ही कथा है। फिर भी

सामान्यतया प्रारम्भ से ही शुरू किया जाता है, और वह स्वाभाविक भी है। इसलिए प्रारम्भ से ही शुरू करता हूँ। हम लोग अभी पढ़ेंगे कि किस प्रकार मास्टर महाशय* सर्वप्रथम ठाकुर का साक्षात्कार करते हैं, किस भाव से उनका दर्शन करते हैं तथा उनकी वाणी से सर्वप्रथम क्या सुनते हैं। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि मास्टर महाशय ने 'वचनामृत' में मात्र ठाकुर के उपदेशों का ही उल्लेख नहीं किया है, अपितु उपदेशों की पृष्ठभूमि तथा जिस अवस्था में ठाकुर कह रहे हैं उस सबका चित्र प्रत्येक परिच्छेद में से वे देते गये हैं।

इसमें एक रहस्य है। मास्टर महाशय ठाकुर के उपदेशों को संक्षेप में अपनी डायरी में लिख रखते थे। इतने संक्षेप में कि उन्हें छोड़ अन्य कोई भी उसका अर्थ नहीं समझ सकता था। कहीं कहीं तो मात्र कुछ सांकेतिक शब्द लिख रखते थे। 'वचनामृत' ग्रन्थ लिखने से पूर्व वे इन शब्दों को लेकर एक एक दिन के दृश्य का ध्यान करते। वे कहते कि ध्यान करते समय उस दिन का सारा दृश्य उनकी आँखों के सामने स्पष्ट रूप से भासित हो उठता। इस प्रकार जब उनके मानस-पटल पर उस दिन की सारी घटना प्रस्फुटित हो उठती, तब वे लिखना प्रारम्भ करते।

इसीलिए हम 'वचनामृत' में प्रत्येक उपदेश के भीतर एक वैशिष्ट्य पाएँगे। ऐसी बात नहीं कि उन्होंने ठाकुर के

* मास्टर महाशय, ग्रन्थ के लेखक तथा श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग भक्त। वास्तविक नाम महेन्द्रनाथ गुप्त था।

उपदेशों को मात्र एकत्र कर एक क्रम में सबके सामने रख दिया है, बल्कि वे एक एक दिन का चित्र हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। ठाकुर बैठे हैं, किस ओर बैठे हैं, कमरे में उनके साथ कौन कौन हैं इत्यादि सबका उल्लेख वे करते जाते हैं। इसके पूर्व उन्होंने कालीमन्दिर का विस्तार से वर्णन किया है। इसके पीछे उनका उद्देश्य यही था कि 'वचनामृत' को पढ़ते या सुनते समय उसके पाठक प्रारम्भ से इन दृश्यों के साथ ठाकुर का ध्यान करते हुए उन उपदेशों को समझने की चेष्टा करें। यह हुआ 'वचनामृत' का अपूर्व वैशिष्ट्य।

मास्टर महाशय ने अपने ध्यान की सहायता से इन उपदेशों को इस तरह लिखा है, मानो ठाकुर से उन बातों को अभी ही सुनकर लिख ले रहे हों। इसके पीछे उनका उद्देश्य यही था कि जो भी इन उपदेशों को पढ़े या सुने, उसके सामने यह सारा दृश्य इस प्रकार प्रत्यक्ष हो उठे कि उसे लगने लगे जैसे वह ठाकुर के समीप बैठकर उनकी वाणी सुन रहा हो, और इस प्रकार ध्यान करता हुआ वह उपदेशों का चिन्तन कर सके। यदि ऐसा हो सका, तो ठाकुर के उपदेश उनके व्यक्तित्व से पृथक् होकर उसके पास नहीं आएँगे, अपितु उनके व्यक्तित्व की प्रभा में उज्ज्वल होकर, जीवन्त होकर, प्राणवन्त होकर हमारे मानसपटल पर अंकित होंगे। तब उनके उपदेश व्यक्ति के सम्बन्ध से कटे नहीं रहेंगे, तब वे जिसे हम abstract (भावातीत) कहते हैं, वैसे नहीं रहेंगे, अपितु हमें ऐसा प्रतीत होगा मानो ठाकुर साक्षात् बोल रहे हैं

और हम जैसे लोगों को ही लक्ष्य करके बोल रहे हैं। इस दृश्य को सामने रख उनका ध्यान करते हुए 'वचनामृत' का चिन्तन करने से हमें बड़ा सुफल मिलेगा। इसीलिए मास्टर महाशय ने 'वचनामृत' को हमारे सामने इस रूप में रखा है, कोई dramatic effect (नाटकीय प्रभाव) उत्पन्न करने की दृष्टि से नहीं। उन्होंने उन उपदेशों को ध्यान की वस्तु बनाकर हमारे सामने रखा है।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि मास्टर महाशय ठाकुर के पास अनायास ही पहुँचे थे, वे संकल्प-पूर्वक उनके दर्शन करने या उनसे मिलने नहीं गये थे। वराहनगर गये थे। तब वहाँ अनेक बगीचे थे। एक बगीचे से दूसरे बगीचे घूमते हुए चले जा रहे थे। साथ में थे उनके सम्बन्धी सिधू, जो इस स्थान से परिचित थे। वे बोले, "गंगा किनारे एक सुन्दर बगीचा है, क्या उस बगीचा को देखने चलेंगे? वहाँ एक परमहंस हैं।" इसके पश्चात् एक के बाद एक बगीचा देखते हुए वे दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर के बगीचे में जा पहुँचे। अतः मास्टर महाशय वहाँ दैवयोग से ही पहुँचे थे। कोई कल्पना नहीं थी मन में। साधु-दर्शन के लिए गये हों ऐसी बात भी नहीं थी।

तत्पश्चात् मास्टर महाशय ने ठाकुर के पास जाकर देखा कि वे कुछ अन्य लोगों से बातचीत कर रहे हैं। यहाँ पर उन्होंने मात्र इतना ही उल्लेख किया है। उन बातों के साथ तब मास्टर महाशय के अन्तःकरण का कोई योग नहीं नहीं हो पाया। पर हाँ, वे बातें उन्हें अच्छी लगीं। लगता

है कि मास्टर महाशय तब ठाकुर के आकर्षण का प्रबल रूप से अनुभव नहीं कर पाये थे; क्योंकि उन्होंने कहा था, "पहले एक बार देख तो लूँ कि कहाँ आ गया हूँ, फिर यहाँ आकर बैठूँगा।"

मास्टर महाशय बगीचा देखने के लिए ठाकुर के कमरे से निकले कि इतने में काँसे के घण्टे, मृदंग, करताल आदि बज उठे, मन्दिरों में आरती होने लगी। वे मन्दिरों की आरती देख ठाकुर के कमरे के सामने आये। देखा कि कमरे का दरवाजा बन्द है।

लौकिक ज्ञान और भगवद्ज्ञान

पहले उनकी बात वृन्दा नाम की नौकरानी से हुई। मास्टर महाशय ने पूछा, "क्या ये खूब किताबें-विताबें पढ़ते हैं?" वृन्दा नौकरानी बोली, "अरे बाबा, किताब-विताब! सब तो उनके मुँह में है।" वृन्दा तो नौकरानी थी, पढ़ी-लिखी तो कुछ भी नहीं, पर उसने बड़े बड़े पण्डितों को उनके पास आते देखा है, बहुत से साधुओं, विशिष्ट व्यक्तियों और विशिष्ट साधकों को भी आते देखा है। और उनकी बातों को मनोयोगपूर्वक न सही, वैसे तो सुना है, और इतना जरूर समझा है कि सब लोग ठाकुर की बातों को सुनकर मुग्ध हुए हैं। वह जानती है कि ठाकुर किताबें-विताबे नहीं पढ़ते, इसलिए उसने अपना सिद्धान्त निकाल लिया कि 'किताब-विताब सब उनके मुँह में है।'

मास्टर महाशय को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उनकी धारणा थी कि आध्यात्मिक जीवन का जानकार होने के लिए ग्रन्थ आदि पढ़ना अपरिहार्य है।

नहीं तो ज्ञान का भण्डार आखिर भरेगा कैसे ? इसीलिए ठाकुर किताब नहीं पढ़ते यह सुनकर वे आश्चर्यचकित हुए।

इसी प्रसंग में हम बाद में देखेंगे एक भक्त महिमाचरण की बात, जो ठाकुर के पास आया करते थे। वे कह रहे हैं, "बहुत खटना पड़ता है, तब कहीं भगवान् मिलते हैं; पढ़ना ही कितना पड़ता है ! अनन्त शास्त्र हैं।" और उत्तर में ठाकुर कह रहे हैं, "शास्त्र कितना पढ़ोगे ? किताब पढ़कर क्या जान लोगे ? किताब पढ़कर ठीक ठीक अनुभव नहीं होता।"

साधारण मनुष्य समझता है कि ज्ञानलाभ करने के लिए बहुत शास्त्र-वास्त्र पढ़ना होगा। बहुत न पढ़ो तो ज्ञान कैसे होगा ? बिना पढ़े तो सामान्य लौकिक ज्ञान अर्जित करना ही सम्भव नहीं है, तब तो यह आध्यात्मिक ज्ञान है—भगवत्तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान है। शास्त्रों में ही तो लिखा है, और साधकों की अनुभूतियाँ भी ग्रन्थों में लिपिबद्ध है कि उन सब किताबों को न पढ़ने से वह ज्ञान कैसे होगा ? अतएव साधारण लोगों को यहाँ लगता है कि ईश्वर-लाभ करने के लिए अनेक ग्रन्थ पढ़ने पड़ते हैं, जैसा कि महिमाचरण कहते थे—'पढ़ना ही कितना पड़ता है !'

महिमाचरण के घर में कमरा-भर किताबें थीं। इस प्रकार कमरा-भर किताबें देख कोई व्यक्ति यह सुने कि इतनी सारी किताबें पढ़नी पड़ती हैं, तब तो वह वहीं से नमस्कार करके लौट जायगा—सोचेगा, हमारे जीवन में ईश्वर-लाभ होने की कोई सम्भावना नहीं है।

वृन्दादासी के साथ बातचीत होने के बाद मास्टर महाशय जब ठाकुर के कमरे में घुसे, तब कमरे में और कोई नहीं था। वे ठाकुर के भाव पर लक्ष्य करते हैं। कैसा था उनका भाव ? जब मछली चारे में मुँह लगा रही हो और बंसी का धागा हिल रहा हो, उस समय मछली पकड़नेवाले का जैसा भाव रहता है, ठीक वैसा ही भाव ठाकुर का तब था।

मास्टर महाशय ने अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति लेकर जन्म लिया था। अद्‌भुत थी उनकी वह शक्ति। जहाँ भी जाते, प्रत्येक वस्तु को खूब बारीकी से देखते थे। सतही दृष्टि से देखना उनके स्वभाव में ही नहीं था। हम लोगों ने देखा है, जब वे मठ में आते तो प्रत्येक कमरे में जाते और उनके साथ जो अनुरागी भक्त आते, उनसे कहते, "देखो, सब चीजें देखनी चाहिए। मठ देखने का मतलब खाली जगह देखना तो नहीं है, आकर सब कुछ देखना, साधुओं के साथ बातें करना, वे कैसा रहते हैं यह देखना।" वे प्रत्येक कमरे के भीतर जाकर देखते थे। किसी के बिस्तर के पास कुछ पुस्तकें होतीं, तो वे पलट-पलटकर देखते कि कौनसी पुस्तकें हैं। इतनी बारीकी से देखते हुए सम्भवतः और किसी को हमने नहीं देखा है। अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने का अभ्यास उनका बराबर बना रहा। इसीलिए 'वचनामृत' में जो वर्णन हम पढ़ते हैं, देखते हैं कि कितनी बारीकी से उन्होंने चित्रण किया है।

ठाकुर की आत्मा में स्थित रहने की स्वाभाविक अवस्था

मास्टर महाशय देखते हैं कि ठाकुर अन्यमनस्क बैठे

हैं। उस समय तक वे वैसी अवस्था के साथ परिचित नहीं हुए थे। यह परिचय कालान्तर में अत्यन्त प्रगाढ़ बना था। पर इस समय तो इतना ही देख पाते हैं कि ठाकुर अन्य-मनस्क बैठे हैं। उन्होंने सोचा कि ठाकुर इस समय कुछ बोलना नहीं चाहते—सम्भवतः यह उनका सन्ध्या-वन्दन आदि करने का समय होगा। अतः उन्होंने कहा, "यह तो आपका सन्ध्या करने का समय होगा, तो मैं फिर कभी आऊँगा।" ठाकुर बोले, "सन्ध्या ?—ना—ऐसा कुछ नहीं है !" ठाकुर के ऐसा कहने का अभिप्राय मास्टर महाशय उस समय समझ नहीं पाये थे। कालान्तर में समझ सके थे। ठाकुर ने समझा दिया था। सन्ध्यावन्दनादि का क्या प्रयोजन है, कितने दिन तक करना होता है, कब उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती, यह सब बाद में उन्होंने जाना था। इस समय तो केवल ठाकुर का अन्यमनस्क भाव ही उन्होंने देखा—आँखें खुली हैं, जैसे सामने की वस्तुएँ देख रहे हों, पर मन मानो बाहर कहीं किसी वस्तु पर नहीं है। उपमा दी, जैसे मछुवा बंसी डाले बैठा है पानी में और मछली पास आकर फँस गयी हो बंसी में ! उस समय मछली पकड़नेवाले का मन और कहीं जाता है ? ठाकुर की दृष्टि इस समय और कहीं नहीं है—बस, मछली ने चारे में मुँह मारा है और बंसी में फँस गयी है, ऐसी अवस्था है।

यह जो अन्यमनस्क भाव है वह साधना की परिपक्व अवस्था में होता है। ठाकुर की सन्तानों—उनके पार्षदों में से कुछ के साक्षात् सान्निध्य में आने का सौभाग्य हम लोगों को मिला था। हम लोगों ने देखा है कि उनको भी

इसी तरह का एक अद्भुत अन्यमनस्क भाव होता था, जो अन्यत्र कहीं देखा नहीं। अन्यान्य स्थानों में बड़े बड़े साधुओं के, विख्यात साधुओं के सम्पर्क में आने का अवसर हमें मिला, किन्तु कहीं भी यह अवस्था, संसार के विस्मृत हो जाने की ऐसी अन्यमनस्क अवस्था देखी नहीं। यह साधना की बड़ी परिपक्व अवस्था है। मैं समाधि की बात नहीं कहता, वह तो और भी बहुत दूर की बात है। यह जो बीच बीच में संसार की सुधि नहीं रह जाती, जगत् विस्मृत हो जाता है, संसार मन पर कोई रेखा नहीं खींच पाता है, संसार है तो, पर मन पर कोई छाप नहीं लगा पाता है, ऐसी अवस्था की बात कर रहा हूँ। स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) द्वारा रचित एक गीत में निर्विकल्प समाधि के प्राथमिक सोपान की दृष्टि से ठीक इसी अवस्था का वर्णन हम पाते हैं—'भासे व्योमे छाया सम छवि विश्व चराचर'—'अस्फुट मन आकाशे'—मन के आकाश में चराचर विश्व छाया के समान प्रतिभासित होता है। छाया के समान अर्थात् जैसे उसके देह न हो, जैसे उसकी वास्तविक सत्ता न हो। छाया है इसलिए उसका अस्तित्व मन पर कोई रेखा नहीं खींच पा रहा है। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड ही छाया के समान प्रतीत हो, यह एक अद्भुत अनुभूति है। इस अवस्था में मनुष्य 'देहस्थोऽपि न देहस्थः'—देह में रहते हुए भी मानो देह में नहीं रहता। यह समाधि-अवस्था नहीं है, अर्थात् ऐसी अवस्था नहीं, जिसमें सब इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। इन्द्रियाँ काम तो करती हैं, पर किसके लिए करती हैं इसका

कुछ पता नहीं चलता। वे मन के सामने विषयों को प्रस्तुत करती हैं और मन उनको द्रष्टा या ज्ञाता के पास ले जा उपस्थित करता है। पर यदि वह ज्ञाता उनको ग्रहण न करे, तो इन्द्रियों का काम करना और न करना एक समान ही है। इस अवस्था में संसार से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता हो ऐसी बात नहीं। संसार जैसे छायामात्र रह जाता है।

ठाकुर की इसी अवस्था को मास्टर महाशय ने देखा। यह हम लोगों के लिए चिन्तन का विषय है, क्योंकि इस प्रकार की अवस्था से हम लोग परिचित नहीं हैं। लौकिक जीवन में हम देखते हैं कि कभी कभी किसी विषयविशेष में मन के डूब जाने से मनुष्य अन्यमनस्क हो जाता है। लेकिन वहाँ उसका मन किसमें डूबा हुआ है, यह हम समझ सकते हैं। एक व्यक्ति की बात है। उसने हमें सुनाया था कि वह जब तक व्यवसाय में लगा, तो उसमें उसका मन इतना डूब गया कि वह बाहरी व्यवहार तो करता था, पर ऊपरी मन से। उसका मन व्यवसाय में और व्यवसाय की समस्याओं में एकदम डूब गया। उसके बन्धु-बान्धव कहते, "तुमसे बातें करके हमें कोई सुख नहीं मिलता। तुम्हारा मन जाने कहाँ लगा रहता है। हम लोग बातें करते रहते हैं और तुम न जाने कहाँ खोये रहते हो।" यह है अन्य-मनस्कता। इसे हम लोग समझते हैं। संसार के किसी एक विषय में डूब जाने से मन इसी प्रकार अन्य विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। यह मनुष्यों को होता है। किन्तु यहाँ पर? यहाँ पर तो मन के उस विषय का ही पता नहीं चलता, जो मन को इस प्रकार खींच

रखता है कि किसी बाहरी वस्तु का अनुभव ही नहीं करने देता। उस विषय के साथ हमारा परिचय नहीं है। अभिनिवेश तो हम समझ सकते हैं। मन का अभिनिवेश इस स्तर तक हो सकता है कि मनुष्य बाह्य जगत् के सम्बन्ध में, इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध में पूर्णतया उदासीन हो जाय। इसका एक दृष्टान्त मुझे स्मरण हो आ रहा है। सर जगदीशचन्द्र बोस के एक छात्र ने यह घटना हमें बतायी थी। तब वे स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त होकर एक बड़े सरकारी पद पर प्रतिष्ठित थे। वे एक दिन सर जे. सी. बोस से मिलने उनके घर गये। उनके घर में उनका निर्बाध प्रवेश था। पता चला कि सर बोस ऊपर छत पर हैं। छत के ऊपर गमलों में पौधे लगे हुए थे, वहाँ बोस बैठे हुए थे। वे जाकर सामने खड़े हो गये। देखा कि सर बोस को कोई सुध नहीं है। बड़ी देर तक खड़े रहे। ध्यानमग्न ऋषि के ध्यान को तोड़ने की उनकी इच्छा नहीं हुई। बहुत समय बाद जब सर बोस को भान हुआ, तो वे बोल उठे—"ओह, तुम ! कब आये ?" "बहुत देर से।" "तो मुझे पुकारा क्यों नहीं ?" उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। इस प्रकार का अभिनिवेश हमारी समझ में आता है। चाहे वह किसी पौधे में हो, चाहे प्रकृति के किसी रहस्य को लेकर हो, या फिर संसारी मनुष्य का मन जिससे आकर्षित होता हो ऐसे धनोपार्जन को लेकर हो। इस सब का आकर्षण तो हम समझते हैं, पर यहाँ पर आकर्षण का विषय जनसाधारण की दृष्टि में पकड़ में नहीं आता। ठाकुर की इस अवस्था का वर्णन 'वचनामृत' में हम और भी पढ़ेंगे।

ठाकुर की यह अवस्था अनेक बार हुआ करती थी। उनके मन की अवस्था अनेक बार ऐसी हो जाया करती थी कि वह संसार के विषयों में किसी प्रकार उतर नहीं पाता था। इस सन्दर्भ में एक घटना का उल्लेख करता हूँ। ठाकुर बागबाजार-स्थित बलराम बोस के घर पधारे हुए थे। उनके दर्शन के लिए नरेन्द्र आदि अनेक युवक-भक्तों का समागम हुआ था। अतीन्द्रिय विषयों की अनुभूति के प्रसंग में अणुवीक्षण यंत्र की बात चल पड़ी। स्थूल आँखो से जिन बहुतसी सूक्ष्म वस्तुओं और जीवाणुओं को देखा नहीं जा सकता, उन्हें इस यंत्र की सहायता से देखा जा सकता है। यह सुनकर ठाकुर ने इस यन्त्र की सहायता से दो-एक वस्तु देखने की इच्छा प्रकट की। पूछ-ताछ करने पर पता चला कि उन युवक-भक्तों में से किसी एक के मित्र के पास एक अणुवीक्षण यंत्र है। वह डाक्टर था। मेडिकल की परीक्षा मे हाल ही में वह विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण हुआ था इसलिए मेडिकल कालेज की ओर से सम्मानपूर्वक उसे वह यंत्र पुरस्कार में मिला था। उसे सूचना दी गयी। तब वह स्वयं यंत्र को लेकर आया। उसने ठीक-ठाक कर ठाकुर को देखने के लिए बुलाया। ठाकुर उठे, देखने आगे बढ़े, पर बिना देखे ही लौट पड़े। उनके इस प्रकार लौट पड़ने का कारण पूछने पर उन्होंने कहा, "मन इस समय इतना ऊपर उठा है कि उसे खींचकर नीचे की ओर नहीं देख पा रहा हूँ।" अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से देखने के लिए मन को जिस स्तर तक नीचे उतारना होगा, वहाँ तक ठाकुर उतार नहीं पाये। उनका

मन किसी भी प्रकार नीचे नहीं उतरा, फलस्वरूप उनका देखना भी सम्भव नहीं हो पाया।

ऐसा था ठाकुर का मन। वह स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगामी था, जगदातीत तत्त्व की ओर गया हुआ था। उस मन को बलपूर्वक खींचकर उन्हें निम्न धरातल पर रखना पड़ता था। इसकी क्या आवश्यकता थी? उन्हें अपने लिए तो कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी वे मन को क्यों खींचकर नीचे रखते थे?—हमारे लिए। वे इन्द्रियातीत आनन्द का पता हम सबको देना चाहते थे। इसीलिए अपने समाधि के आनन्द की भी उन्होंने उपेक्षा कर दी थी। वे कहते, "माँ, मुझे बेहोश न कर। मैं इन लोगों से बातें करूँगा।" क्या आवश्यकता थी उनको बातें करने की? वे तो आनन्द में विभोर थे। जो 'आत्मरतिः', 'आत्मतृप्तः' और 'आत्मनि एव संतुष्टः' थे, वे हमारे लिए इतने व्याकुल हो गये कि माँ से प्रार्थना करते हैं, "माँ, मुझे बेहोश न कर, मैं इन लोगों से बातें करूँगा।" और बातें उन्होंने कीं। तभी तो आज 'वचनामृत' पृथ्वी में सर्वत्र परोसा जा रहा है। ठाकुर के मन की तो अतीन्द्रिय तत्त्व की ओर सहज गति थी। उस मन को वे बाँध-छाँदकर हमारे लिए नीचे खींच लाते थे। उन्हें बारम्बार समाधि होती थी। इससे वे असन्तुष्ट हो उठते थे कि यह समाधि उन्हें भक्तों से बातें नहीं करने दे रही है। जिस समाधि के लिए ऋषि-मुनि जन्म-जन्मान्तर से साधना करते रहते हैं, तपस्या करते रहते हैं, वह समाधि उनके पास बारम्बार आती है, पर वे उनकी उपेक्षा करते हैं, असन्तुष्ट हो उठते

हैं—"यदि मैं इस प्रकार समाधि में मग्न रहूँ, तो मेरे आने की सार्थकता क्या ?"

ठाकुर ने प्रसंग को चुटकुले के माध्यम से समझा दिया। तीन मित्र मैदान में घूमने गये। घूमते घूमते देखते हैं कि ऊँची दीवाल से घिरा एक स्थान है। उसके भीतर से गाने बजाने की मधुर ध्वनि आ रही है। उनकी इच्छा हुई कि देखें, भीतर क्या हो रहा है। उनमें से एक किसी प्रकार कहीं से एक बाँस की सीढ़ी ले आया। वह सीढ़ी लगाकर दीवाल पर चढ़ गया। भीतर झाँकने पर उसने जो कुछ देखा, उससे इतना आनन्दविभोर हो गया कि हँसते हँसते भीतर कूद पड़ा। तब दूसरा मित्र ऊपर चढ़ा और वह भी उसी तरह अपने को न सम्हाल हँसते हँसते नीचे कूद पड़ा। तब तीसरा मित्र भी सीढ़ी के सहारे ऊपर चढ़ा। उसे भी भीतर का वह आनन्द-मेला दिखायी पड़ा। पहले तो उसकी भी इच्छा हुई कि वह भी उस आनन्द में सम्मिलित हो जाय। पर तुरत सोचने लगा कि यदि मैं भी उसमें सम्मिलित हो जाऊँ, तब तो बाहर के लोग नहीं जान पाएँगे कि यहाँ ऐसी आनन्द की जगह है। क्या मैं अकेले ही इस आनन्द का उपभोग करूँ ? ऐसा सोच वह बलपूर्वक अपने मन को लौटाकर नीचे उतर आया और जो भी उसे मिलता, उसी से कहता—भाई, सुनो, यहाँ आनन्द से भरी एक जगह है, चलो, सब मिलकर उसका उपभोग करें।

यह तीसरा मित्र स्वयं ठाकुर हैं, जो अकेले आनन्द का उपभोग करने नहीं आये हैं, बल्कि उस अक्षय आनन्द-

भण्डार को हम सबके लिए उन्मुक्त कर देने आये हैं। इसीलिए उन्हें अपने समाधि-सुख की भी उपेक्षा करनी पड़ रही है। यह ठाकुर का ध्यान देने योग्य वैशिष्ट्य है, जिसे हमें स्मरण रखना होगा।

ठाकुर का मानव-प्रेम

'लीला-प्रसंग' में ठाकुर के जीवन का विश्लेषण करते हुए बहुत सी बातों की चर्चा हुई है। उनमें से एक यह है ठाकुर के जीवन की हर घटना के पीछे एक ही उद्देश्य दिखता है। वह क्या? 'जगत्-कल्याण', 'संसार को शिक्षा'—सब कुछ दूसरों के लिए, अपने लिए कुछ भी नहीं। इसे समझने के लिए हमें बड़ी बारीकी से उनके जीवन का अनुशीलन करना होगा। हम विशेष कुछ तो नहीं समझ सकते, पर इतना समझ में आता है कि जो इच्छा मात्र से समाधि में निमग्न होकर रह सकते थे, वे हम लोगों के लिए अपने समाधि-सुख की भी इस प्रकार उपेक्षा कर देते हैं, जगन्माता से झगड़ा करते हैं—"माँ, तू मुझे बेहोश क्यों कर रही है, मैं इन लोगों से बातें करना चाहता हूँ!" वे जानते थे कि ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोगों को घोर अज्ञानता है। या तो हम संसार के साधारण सुखों में निमग्न हैं, या फिर दुःख से कातर हो हा-हा कर रहे हैं। इस सुख-दुःख से पार जाने का पथ दिखाने के लिए ही ठाकुर के प्राण व्याकुल थे। केवल अपने ही नहीं अपितु उनके समस्त पार्षदों के प्राण भी तदनुरूप व्याकुल हों, इसकी चेष्टा उन्होंने की थी और अपने पार्षदों को

उसी प्रकार तैयार किया था। नरेन्द्रनाथ समाधि में डूब जाना चाहते थे। उनकी भर्त्सना करते हुए ठाकुर ने कहा था, "छिः छिः, तू इतना बड़ा आधार और तेरे मुँह से ऐसी बात ! कहाँ तू एक विशाल वट-वृक्ष की तरह होगा, जिसकी छाया में हजारों लोग आश्रय पाएँगे, और कहाँ तेरी यह हीन बुद्धि, केवल अपनी मुक्ति की चाह ? यह कैसी अत्यन्त तुच्छ बात तेरे मुँह में ? नहीं, अपनी दृष्टि इतनी छोटी न बना।"

ऐसी ही बात ठाकुर ने श्री माँ से भी कही थी, "देखो, कलकत्ते के लोग मानो अँधेरे में कीड़े की तरह बिलबिला रहे हैं, तुम उन लोगों को देखना।"

उनका जीवन हम लोगों के लिए समर्पित था और जो लोग उनके लीला-सहचर के रूप में आये थे, उनमें से प्रत्येक को ही उन्होंने "जगद्धिताय" मंत्र से उद्बुद्ध किया था। कहा था—"तुम्हारे जीवन का जो आनन्द है, उस असीम आध्यात्मिक आनन्द को अकेले ही भोगने के लिए तुम संसार में नहीं आये हो। तुम आये हो इस संसार को उस आनन्द का पता बताने के लिए।" यही ठाकुर के जीवन की मौलिक विशिष्टता है। उन्होंने अपने लिए कुछ भी नहीं किया—जो किया वह संसार के सब लोगों के लिए किया। और उनका वह करना क्या था ? मनुष्यों को दुःख-कष्टों से पार ले जाना। जो आनन्द उनके लिए अज्ञात है, उसका पता बता देना, और केवल पता बता देना ही नहीं, अपितु हाथ पकड़कर वहाँ तक पहुँचा देना। वे कहते थे—"जो करने का है, वह मैंने कर दिया है।

तुम लोगों को और अधिक कुछ करना नहीं होगा, यह प्रकाश देखते हुए चले आओ।" कहते थे, "परोसे हुए भोजन में बैठ जाओ, रसोई-वसोई सब तैयार है।" उन्होंने कुशल गृहिणी की भाँति भोजन पकाकर रख दिया है और थाली परोस दी है। हमें अब केवल भोजन करने बैठना है, ग्रास उठाकर मुँह में ले जाना है। आग जला दी गयी है, अब केवल तापना है। जिसको जो आवश्यक है, वह सब मानो उन्होंने पहले से तैयार करके रख दिया है और पुकारकर कह रहे हैं—"तुम लोग आओ, आकर इस आनन्द का उपभोग करो।" और केवल पुकारते ही नहीं, रास्ता भी दिखाते हैं, उत्साह बढ़ाते हैं, शक्ति देते हैं, मार्ग के समस्त विघ्न-बाधाओं को मानो अपने हाथों से हटा देते हैं। और यह सब वे मात्र दो-चार व्यक्तियों के लिए ही नहीं करते, केवल अपने सामने के कुछ पार्षदों के लिए ही नहीं करते, अपितु संसार के समस्त लोगों के लिए करते हैं। पहले ही कहा है कि उन्होंने अपने पार्षदों को इस प्रकार गढ़ा, जिससे वे उनके इस mission को, उनके जीवन के इस उद्देश्य को पूरा करने में सहायक बनें।

उन्हें उनकी स्थूल देह के रहते जितना क्रियाशील देखा गया, उसकी अपेक्षा सैकड़ों नहीं, हजारों नहीं, लाखों गुना क्रियाशील वे आज हैं। अशरीरी होकर समस्त जगत् में वे जो कार्य कर रहे हैं, उसका तो मात्र आभास ही हम आज पा रहे हैं। स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने कहा है—कालान्तर में जो घटेगा, उसका आभास मात्र अभी

हम पा रहे हैं; पूरा चित्र अभी हम लोगों के सामने नहीं है। वही मानो क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है और उनके इस क्रमिक प्रस्फुटन का आभास हम लोग पा रहे हैं। देखकर हमें आश्चर्य होता है, हम अवाक् हो जाते हैं और सोचते हैं कि कालान्तर में जाने कितना क्या होगा !

●

'विववेक-ज्योति' के एजेन्टों के लिए लिए नियम

(१) एक अंक की कम से कम १० प्रतियाँ मँगाने पर भेजने का खर्च 'विवेक-ज्योति कार्यालय' वहन करेगा।

(२) एक अंक की १० से २० प्रतियाँ मँगाने पर कुल मूल्य पर २० प्रतिशत की छूट दी जायगी।

(३) एक अंक की २० से अधिक प्रतियाँ मँगाने पर कुल मूल्य पर २५ प्रतिशत की छूट दी जायगी।

(४) एक अंक की ५० से अधिक प्रतियाँ मँगाने पर विशेष सुविधा यह रहेगी कि जो प्रतियाँ न बिकी रहेंगी पर बिलकुल नयी-सी रहेंगी, उनके बदले नये अंक की उतनी ही प्रतियाँ अगले आर्डर के साथ उन्हें भेज दी जाएँगी। उन पत्रिकाओं को वापस भेजने का डाक-व्यय एजेन्ट का होगा।

(५) पत्रिका की प्रतियाँ या तो वी. पी. द्वारा डाक से या फिर रेल से पार्सल द्वारा भेजी जाएँगी और बिल्टी वी. पी. या बैंक से।

अपना नाम, पता, रेलवे स्टेशन आदि सुवाच्य अक्षरों में लिखें।

नमूने की एक प्रति ३)७० की वी० पी० से भेजी जायगी।

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (१०)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्-बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है।—स०)

२३ जुलाई, १९२०

स्थान—रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, काशी

आज सुबह अच्छी बारिश हो चुकी है। इससे गर्मी काफी कम हो गयी है। गीतापाठ समाप्त कर साधुओं में से कई जन स्वामी तुरीयानन्दजी के पास आकर बैठे। स्वामीजी ने पूछा, "आज क्या पढ़ा गया?" एक ने उत्तर दिया, "पिछले कुछ दिनों से हम लोग श्रीधर स्वामी की टीका के साथ गीता का अध्ययन कर रहे हैं।"

स्वामीजी—गीता बड़ा अद्भुत ग्रन्थ है। यद्यपि वह यथार्थतः स्मृति के अन्तर्गत है, तथापि उसे उपनिषद् कहा गया है—उपनिषदों के सारभूत तत्त्व जो इसमें हैं। देखा नहीं, प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा है—'श्रीमद्भगवद्-गीतासु उपनिषत्सु'। इसीलिए ऋषि कह गये हैं—'सकृद् गीताम्भसिस्नानं संसारमलनाशनम्'—अर्थात् एक बार गीतारूपी जल में स्नान करने पर जन्म-जन्मान्तर से हमारे मन में जो मलिनता जमी हुई है, वह नष्ट हो जाती है। शत शत अतीत जन्मों की मलिनता ने हमारे शरीर और

मन को मलिन कर रखा है; गीतारूपी जल में एक बार स्नान करने से यह सारी मलिनता धुल जाती है। इस गीता ग्रन्थ को ऊपर ऊपर पढ़ जाने से कुछ नहीं होगा। उसमें पूरी तरह डूब जाना होगा। यदि पहले उपनिषदों को पढ़ लो, तो गीता और भी अच्छे से समझ सकोगे।

गीता के बारे में कहते हुए क्रमशः समाधि-अवस्था आदि अनेक उच्चस्तर की बातें होने लगीं। महाराज भावविभोर हो अनेक उच्च उच्च तत्त्वों का वर्णन करने लगे। अकस्मात् सबके मुँह की ओर ताकते हुए वे बोल उठे, "ये सब बातें बतलाऊँ भी किसे ? समझे भी कौन ? इसीलिए कवि ने कहा है—'अरसिकेषु रहस्यनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख'—यानी अरसिकों के आगे रस की चर्चा करना, हे विधाता, मेरे कपाल में कभी मत लिखना !"

सभी उपस्थित व्यक्ति सोचने लगे—सच ही तो, हमने जीवन में भला क्या उपलब्धि की ? लज्जा और आत्मग्लानि के मारे सब चुपचाप बैठे रहे। तब महाराज प्रसंग को परिवर्तित कर बोलने लगे।

महाराज—वाह ! अच्छी ठण्ड पड़ रही है। कुछ दिन कितनी गर्मी रही। परन्तु यह शीत और उष्ण दोनों ही अनित्य हैं। वे आते हैं और चले जाते हैं। गीता में नहीं पढ़ा ?—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।

—अर्थात्, हे अर्जुन, विषयों के साथ संस्पर्श होने के

कारण ही शीत-उष्ण एवं सुख-दुःख की अनुभूति होती है। ये चीजें आती हैं और फिर चली जाती हैं, अतएव ये अनित्य हैं। इन्हें सहन करना होगा। चूँकि ये हमारे ही मन की अनुभूतियाँ हैं, इसलिए भगवान् उन्हें सहन करने का उपदेश दे रहे हैं। ठाकुर की बात याद है न ? वे कहते थे, 'श, ष, स (यानी सह, सह, सह)। जो सहेगा सो रहेगा, जो न सहेगा सो नसेगा।'

"ओह, कितनी गरमी रही कुछ दिन ! अभी फिर शानदार ठण्डक पड़ रही है। समुद्र को एक बार पार कर आने पर वह गोष्पद-जैसा प्रतीत होता है। अभी हम लोगों को गरमी का कष्ट विशेष याद नहीं आ रहा है। समुद्र पार करते समय ही कष्ट होता है।"

फिर एक गीत गाते हुए महाराज ने यह भाव व्यक्त किया कि जिस विपत्ति को पार कर लिया गया, उसका फिर कोई विचार नहीं करता।

फिर बोले—"बात करना बड़ा कठिन है, क्योंकि एक ही बात को भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न रूप से ग्रहण करते हैं। परन्तु जो यथार्थ साधु होते हैं, वे कभी कोई ऐसी बात नहीं कहते, जिससे दूसरों को क्लेश हो। वे सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सत्यों का इस तरह से प्रचार किया करते हैं, जिससे मानवजाति का कल्याण हो। पर लोग उसके भी भिन्न भिन्न अर्थ निकालते हुए कितना विवाद-वितण्डा-वाद करते हैं, जानते ही हो। फिर सब लोगों से हास्य-

विनोद भी तो नहीं किया जा सकता। इसलिए बड़ी सावधानी से बातें करनी पड़ती हैं। देखा है, हमारे ठाकुर मानो रस की खान थे। उनकी तुलना नहीं हो सकती। एक दिन केशवबाबू के दक्षिणेश्वर आने की बात थी। जिस समय केशवबाबू के आने की बात थी, उसके काफी पहले ही ठाकुर लाल किनारी की धोती पहने, एक अच्छी सी चादर ओढ़े, पान खाकर होंठ लाल किये, केशव की प्रतीक्षा करते हुए, कमरे के सामनेवाले बरामदे में टहलने लगे। केशव ने आकर उन्हें इस वेश में देख कहा, 'आपकी तो आज बड़ी सजधज दिखायी दे रही है। क्या बात है?' ठाकुर हँसते हुए बोले, 'आज मुझे केशव का मन जो लुभाना होगा, इसीलिए इतनी सजधज है!' सुनकर केशव हँसने लगे।

"स्वामीजी भी बड़े रसिक थे। फिर भी ठाकुर के साथ उनकी रसिकता की तुलना नहीं हो सकती। ठाकुर की बात सुनकर एक एक समय अँतड़ियों में मानो बल पड़ने लगता। वे कहते, 'बीच बीच में थोड़ा बघार देकर इसकी तबियत खुश रखता हूँ।'

"एक बार केशवबाबू और प्रताप मजूमदार आये हुए थे। उनके सामने ही एक ब्राह्म भक्त ने कहा, 'ये मानो गौर-निताई हैं।' ठाकुर निकट ही थे। केशव ने उनसे पूछा, 'फिर आप कौन हैं?' वे तुरन्त बोल उठे, 'इसे पकड़ने का कोई उपाय नहीं।'

"ठाकुर ने ही ब्राह्मों को प्रणाम करना सिखाया। उन्हीं के द्वारा ब्राह्म समाज में ईश्वर का मातृभाव प्रतिष्ट

हुआ। ठाकुर की बातों में एक अपूर्व शक्ति थी। वे मानो लोगों के हृदय को हर लेते थे। अमेरिकन लोग भाषण से प्रत्यक्ष वार्तालाप अधिक पसन्द करते हैं। उससे उन्हें अधिक लाभ होता है।"

'बात बात में यदि भक्त भगवान् पर सम्पूर्णतया निर्भर हो सके, तो भगवान् स्वयं उसकी रक्षा करते हैं। परन्तु तनिक भी कर्तृत्व या अहंभाव के रहते भगवान् दूर ही रहते हैं'—यह विषय निकला। इस प्रसंग में महाराज ने यह कहानी सुनायी—

"एक बार एक भक्त कहीं जा रहा था। राह में वह डाकुओं के हाथ पड़ा शिव उसके इष्टदेवता थे। इसलिए विपत्ति में पड़कर वह शिव को पुकारने लगा। पर थोड़ी ही देर में उसका यह भाव चला गया और आत्मरक्षा के लिए उसने एक ईंट उठा ली। इधर कैलास में शिव-पार्वती पासा खेल रहे थे। शिवजी पासा खेलने में खूब मग्न थे। किन्तु एकाएक वे खेल छोड़ उठकर चले गये। पार्वती कुछ न समझ पा बैठी सोचती रहीं। थोड़े ही समय में शिवजी लौट आये और पुनः पासा खेलने बैठ गये। पार्वती ने आश्चर्यचकित हो उनसे पूछा, 'प्रभो, आप अचानक उठकर चले गये, फिर इतनी जल्दी लौट भी आये ? इसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आ रहा है। इसे जानने के लिए मेरे मन में कौतूहल हो रहा है। उसकी निवृत्ति हुए बिना मैं किसी प्रकार खेल में मन नहीं लगा पा रही हूँ।' तब शिवजी हँसते हुए बोले, 'देवी, जो एकान्त मन से मेरी शरण लेता है, मैं उसकी सभी संकटों से रक्षा

करता हूँ। परन्तु जब वह थोड़ा भी अहंभाव रखता है, अपना भार स्वयं ही लेने के लिए तैयार होता है, तब उसके लिए मैं कोई चिन्ता नहीं करता। अभी एक भक्त डाकुओं के हाथ में पड़कर एकान्तचित्त से मेरी शरण माँग रहा था, इससे मेरा आसन डोल उठा और मैं उसकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ा, पर जाकर देखा कि उसने स्वयं को बचाने के लिए हाथ में ईंट उठा ली है। इसी कारण मुझे वहाँ ठहरने की आवश्यकता नहीं रही।' समझ गये न, थोड़ा भी अहंकार रहने से नहीं चलेगा।

"भक्त लोग कहते हैं—भगवान् दीनबन्धु हैं, दीनानाथ हैं, दुर्बल के सहाय हैं; परन्तु दीन होना बड़ा कठिन है। ठाकुर एक मेहतरानी की कथा सुनाते थे। किसी मेहतरानी के कुछ गहने थे। उन गहनों को पहन जब वह लोगों के सामने से निकलती, तो कहती जाती, 'हट जाओ, हट जाओ, मुझे मत छूओ।' भक्त की दीनता अलग चीज है। वह सांसारिक दृष्टि से भले ही अत्यन्त ऊँचे, गौरवपूर्ण पद का अधिकारी हो, फिर भी वह स्वयं को तिनके से भी नीचा मानता है। भक्त और एक बात कहा करते हैं। वे कहते हैं—भगवान् हमारा हाथ पकड़कर चलाते हैं। इस बात को तुम लोग कवि की कल्पना मत समझना। जिन्होंने वस्तु की उपलब्धि की है, वे लोग जानते हैं कि यह बात अक्षरशः सत्य है। गोविन्द ! गोविन्द !"

२५ जुलाई, १९२०

स्थान—रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, काशी

एक बंगाली वैश्य युवक संसार से विरक्त होकर हाल

ही में काशीधाम आया है। युवक ने अपनी इच्छा से गेरुआ वस्त्र पहन रखा है। घर में माँ है। माँ से अनुमति माँगने पर माँ ने उससे कहा—'तुम चाहे जो करो, पर सुखी रहो, यही मेरी इच्छा है।' आज वह महाराज से भेंट करने आया है।

युवक का पूर्वापर सारा वृत्तान्त सुनकर महाराज बोले, "वैराग्य तो बड़ी अच्छी बात है। देखता हूँ, तुम्हारी माँ तुम्हारे मार्ग की बाधा नहीं है। तुमने विवाह भी नहीं किया है, अतः संसार में वैसा कोई तुम्हारा बन्धन नहीं है। आयु कम है, स्वास्थ्य भी अच्छा है। चेहरे पर भी संयम के चिह्न हैं। जिन्होंने कामजन्य भोगों को अस्वीकार किया है, उन्हें भी काम पर विजय पाने में पचास वर्ष लग जाते हैं। जिन्होंने उनका उपभोग किया है, उनके तो जन्म-जन्म कट जाते हैं। तुमने गेरुआ पहन रखा है। चारों वर्ण के लोग तुम्हें प्रणाम करेंगे। इससे तुम्हारा अकल्याण होगा। गेरुआ उतार दो। दीक्षा खूब अच्छे व्यक्ति से लेनी चाहिए, अन्यथा परिणाम बुरा होता है। दीक्षा आखिर है क्या? भगवान् का जो नाम अच्छा लगे, उसी को एकाग्र मन से जपा करो, सरल हृदय से उनसे प्रार्थना करते रहो। वे सब ठीक कर देंगे। तुम्हारे प्रति प्रेमवश ही में इतना कह रहा हूँ। वरना और भी तो लोग हैं। सबको तो मैं नहीं कहता।

"देखो, जिस प्रकार तुम्हारी माँ तुम्हें कैसे सुख हो इसका विचार कर रही है, उसी प्रकार तुम्हें भी माँ को कैसे सुख हो इसका विचार करना चाहिए। तुम घर

जाओ। घर जाकर माँ को सुखी करने का प्रयत्न करो। हमने किस प्रकार धीरे धीरे, एक एक कदम रखते हुए चलना सीखा यह हम मानो भूल ही गये हैं। इसी माँ के गर्भ में हमें कितनी असहाय अवस्था में रहना पड़ा यह मानो हमें याद ही नहीं आता। देखो, बकरी का बच्चा जन्मते ही अपनी माँ का थन ढूँढ़ निकालता है, फिर आप ही उछलने-कूदने लगता है, कितनी जल्दी आप ही चलते हुए चरना सीख लेता है। पर मनुष्य कितना असहाय है देखो—माँ ने थोड़ा ठीक से ढका नहीं कि ठण्ड से खत्म हो गया !

"आदर्श खूब ऊँचा रहना चाहिए। परन्तु स्वयं की शक्ति के सम्बन्ध में असम्भव प्रकार की धारणा बनाये रखना भी अनुचित है। जितना अधिक योग्य बन सको, उतनी ही शक्ति बढ़ती जाती है।

"क्या संन्यास आसान बात है ? ठाकुर कहते थे—'जो ताड़ के पेड़ पर से हाथ-पैर ढीला छोड़कर गिर सकता है, वही संन्यास के लिए उपयुक्त है। क्या यह आसान बात है ? हम लोग तो नाना बन्धनों में जकड़े हुए हैं। तुम घर जाकर माँ की सेवा करो, तुम्हारा कल्याण होगा।"

२६ जुलाई, १९२०

महाराज—अच्छा बताओ तो, 'स वेदवित्' कैसे हुआ ?

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं　प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ गीता, १५।१

—अर्थात्, ऊपर मूल, नीचे शाखाएँ और वेदरूप पत्रवाले

सनातन अश्वत्थ वृक्ष को जो जानता है, वह वेदवित् (वेदज्ञ) होता है। ब्रह्म को जानने से वेदवित् होता है, ऐसा नहीं कहते। तो क्या संसार को जानने से ही वेदवित् हो जाता है ? यहाँ तो ऐसा ही कह रहे हैं। जिसने संसार को जाना, वही वेदवित् है। संसार कैसा है ?—ऊर्ध्वमूल, जिसका मूल ऊपर की ओर है, यानी जो परमात्मा से प्रसृत हुआ है, और अश्वत्थ, यानी वह जो कल ही नहीं रहेगा। इस श्लोक का यही तात्पर्य है न !

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः। गीता, १५।२
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्
असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा। गीता, १५।३

—अर्थात्, उसकी शाखाएँ ऊपर-नीचे फैली हुई हैं। वे गुणों द्वारा वर्धित हैं और विषय ही उनके पल्लव हैं। इस दृढ़-मूल अश्वत्थ वृक्ष का असंगरूपी दृढ़ शस्त्र के द्वारा छेदन करना होगा। असंग यानी अनासक्ति या वैराग्य द्वारा इस संसार को छिन्न कर डालना होगा।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। गीता, १५।४

—अर्थात्, उसके बाद उस पद का अन्वेषण करना होगा, जहाँ जाने पर कोई पुनः लौटकर नहीं आता।

"यहाँ पर फिर समस्या आ गयी। 'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।' एक ऐसा भी तो मत है कि हम सब उन्हीं में से आये हैं। तब फिर 'न निवर्तन्ति' कैसे हुआ ?

एक बार जब उनमें से आना सम्भव हो सका, तब फिर उनमें जाने पर फिर लौट आना सम्भव हो ही सकता है। क्यों, ठीक है न ? हाँ, आधिकारिक पुरुषों की बात अलग है। वे जन्मते समय ही पूर्ण ज्ञान लेकर आते हैं। वे फिर उतर आ सकते हैं, इसके लिए कोई न कोई वासना रख देते हैं। 'पदमव्ययं तत्'। और क्या कहते हैं ?

नतद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ गीता,१५।६

—अर्थात्, सूर्य, चन्द्र या अग्नि उसे प्रकाशित नहीं कर सकते। जहाँ जाने पर जीव फिर लौटकर नहीं आता, वही मेरा परम धाम है।

"एक समय हर एक के जीवन में विषयोपभोग करते हुए वैराग्य आ जाता है, उस समय यदि उसे साधु-संग मिल जाय, तो कल्याण होता है। विषयों के दोष देखकर ही प्रथम वैराग्य का आरम्भ होता है। यह दोषदर्शन न हो, तो उपदेश आदि कुछ भी परिणामकारी नहीं होता।"

(क्रमशः)

●

अगर तुम्हें पागल ही बनना है, तो संसार के विषयों के लिए पागल न बन ईश्वर के लिए पागल बनो।

—श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:— शिवनाथ शास्त्री

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और मिशन, बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके सितम्बर, १९७६ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।—स०)

एक निर्धन ग्रामीण परिवार के हरमोहन भट्टाचार्य एवं गोलकमणि देवी की सन्तान होने के बावजूद शिवनाथ भट्टाचार्य तत्कालीन भारत की राजधानी कलकत्ता में एक अज्ञात अवस्था से शीघ्र ही प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गये थे। हुगली जिले के चंगरीपोटा ग्राम में ३१ जनवरी, १८४७ को अपने मामा के घर में जन्मे शिवनाथ ने बाल्यावस्था में भी सबको शीघ्र आकर्षित कर लिया था। उनके मामा द्वारकानाथ विद्याभूषण एक शास्त्रज्ञ विद्वान् थे तथा 'सोमप्रकाश' पत्रिका के सम्पादक थे। उन्होंने अपने बड़े होते भानजे पर काफी प्रभाव डाला था। शिवनाथ १८६२ में भवानीपुर, दक्षिण कलकत्ता के

महेशचन्द्र चौधरी परिवार के साथ आकर रहने लगे और इसने उनके लिए एक नया आयाम खोल दिया ।[१] प्रभुत्वपरायण पिता ने पहले उनका विवाह नवीन चन्द्र चक्रवर्ती की कन्या प्रसन्नमयी से और उसके बाद अभय चरण चक्रवर्ती की कन्या विराजमोहिनी से कर दिया। दूसरा विवाह सम्भवतः १८६५ में हुआ और इसने शिवनाथ की जीवनधारा काफी कुछ बदल दी। इस दूसरे विवाह को शिवनाथ ने अत्यन्त अनुचित माना, क्योंकि इसका कारण पिता का सिर्फ नवीन चन्द्र के परिवार से नफरत करना था। उनका विवेकी अन्तःकरण उनको सदैव कुरेदता रहता और अन्त में उनको एकमात्र ईश्वर के शरणापन्न होना पड़ा। थियोडोर पार्कर की 'Ten Sermons and Prayers' ने उन्हें प्रार्थना करना सिखलाया। फिर भी उन्हें मानसिक यंत्रणा की अवधि से गुजरना पड़ रहा था और उन्हें कसी सहारे की आवश्यकता थी। उन्होंने धर्म और अन्तर्यामी प्रभु के आदेशों का पालन करने का निश्चय किया।[२]

समाज के सभी वर्गों में, विशेषकर अँगरेजी शिक्षा प्राप्त युवकों में उस समय ब्राह्मसमाज का जोर अपने शीर्ष पर था। इसलिए यद्यपि शिवनाथ उसके कार्यक्रम से आकर्षित हुए, तथापि उनमें कट्टर ब्राह्मण-संस्कार भरे थे। ऐसी स्थिति में वे कैसे ब्राह्म-प्रभाव में दीक्षित हुए इस

१. शिवनाथ शास्त्रीः 'आत्मचरित' (बँगला) (सिग्नेट प्रेस, कलकत्ता-२०), पृ. ५७।

२. वही, पृ० ६८-९।

सम्बन्ध में उनके जीवनीकारों ने और उन्होंने स्वयं दो कारणों की चर्चा की है—प्रथम, उनका स्वाभाविक धार्मिक रुझान और द्वितीय, उनका दुर्भाग्यपूर्ण दूसरा विवाह।[3] जो भी हो, सन् १८६८ तक वे केशव चन्द्र सेन द्वारा नवगठित भारतीय ब्राह्मसमाज से सम्बद्ध होकर रहने के बदले राम मोहन राय द्वारा स्थापित आदिसमाज से सम्बद्ध रहे। पर उसके बाद ही उनके मित्र एवं सहपाठी विजयकृष्ण गोस्वामी ने उन पर केशव के साथ आने के लिए जोर डाला। इसलिए शिवनाथ धीरेधीरे आदि-समाज से अपने को अलग करके अधिक प्रगतिशील दल के साथ आ मिले। अगस्त १८६९ में ब्राह्म-मन्दिर के प्रतिष्ठापन के अवसर पर केशव ने शिवनाथ तथा बीस अन्य शिक्षित युवकों को ब्राह्म-धर्म में दीक्षित किया। इससे शिवनाथ के पिता इतने क्षुब्ध हुए कि उन्होंने अपने पुत्र का ही परित्याग कर दिया! पर दूसरी ओर केशव के प्रबल प्रभाव ने इस कट्टर ब्राह्मण-युवक को ब्राह्म-आन्दोलन के एक समर्पित नेता के रूप में परिवर्तित कर दिया। अपने परिवर्तन का समर्थन करते हुए शिवनाथ ने लिखा था—

३. शिवनाथ की पुत्री हेमलता देवी और उनके चरित्र की लेखिका ने जोर देकर लिखा है—'मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि यदि उनका दूसरा विवाह न होता, तो वे कभी ब्राह्म समाज के प्रभाव में न आते....। अपने हृदय की भयंकर पीड़ा से लगभग उन्मत्त-से हो उन्होंने भगवान् की शरण ली थी।'—'शिवनाथ-जीवनी' (बँगला), पृष्ठ १०४।

'जब हम लोगों ने ब्राह्म-धर्म के लिए हिन्दू-धर्म का परित्याग किया, तब हमारा यह पक्का विश्वास था कि ब्राह्म-धर्म सिर्फ आत्मा का ही नहीं वरन् मस्तिष्क, हृदय और अन्तरात्मा का धर्म है। हम लोगों ने एक ऐसे धर्म का परित्याग किया था, जो न सिर्फ असंख्य देवी-देवताओं की पूजा करता है और अन्तरात्मा की उच्च भावनाओं की भूख मिटाने में असमर्थ है, बल्कि दुनिया भर के कुसंस्कारों, अन्धविश्वासों और सामाजिक बुराइयों की उर्वरा भूमि है, जिसने देश के लोगों में स्वस्थ सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं के विकास को अवरुद्ध और कुण्ठित कर दिया है, [—इसका हमने परित्याग किया] जिससे हम एक ऐसे को अपना सकें जो न सिर्फ हमारी आध्यात्मिक भूख को सन्तुष्ट कर सके, पर साथ ही हमारी पवित्रतर सामाजिक एवं बौद्धिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सके।'[४]

सन् १८७२ में संस्कृत विषय में एम० ए० की परीक्षा में सफलता पाने पर शिवनाथ को शास्त्री की उपाधि प्रदान की गयी। दो वर्ष पश्चात् दक्षिण उपनगरीय शाला के प्रधानाध्यापक का कार्यभार सँभाल उन्होंने अपना निवासस्थान भवानीपुर में बनाया। शीघ्र ही भारतीय ब्राह्मसमाज की भवानीपुर-शाखा की बैठक उनके घर पर होने लगी और वे ब्राह्म-धर्म के मात्र एक समर्पित सदस्य ही न रहे वरन् अपने तार्किक दृष्टिकोण के बचाव के लिए

४. The Brahmo Public Opinion दिनांक २ मई, १८७८।

किसी भी प्रकार का सामना करने के लिए एक आक्रामक नेता के रूप में उभरकर सामने आ गये। इसलिए, १८७७ के लगभग, शिवनाथ, आनन्दमोहन बोस और अन्य कुछ युवा नेताओं के आपस के मतभेद गहरे हो उठे, जिसका फल हुआ कुछ वर्षों के बाद दूसरी और सम्भवतः ब्राह्म-आन्दोलन की सबसे गहरी फूट। केशव के द्वारा एक प्रकार से दैवी शक्ति का स्वीकरण, स्त्री-पुरुषों का एक साथ प्रार्थना-सभाओं में एकत्रित होना और 'भारत आश्रम आरोप' इन सबने इस विभाजन की पूर्व तैयारी कर दी थी। यह नया दल जो केशव के दल से अलग हुआ, साधारण ब्राह्मसमाज के नाम से जाना गया।

शिवनाथ की ब्राह्म-आन्दोलन के विकास की इन प्रक्रियाओं में क्या भूमिका थी इसे ठीकठीक समझने के लिए उनके मानसिक गठन को जानना आवश्यक है। उन्होंने अपनी डायरी में व्यक्त किया था—

'कुछ लोगों का स्वभाव आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल होता है—वे लोग स्वभाव से आध्यात्मिक होते हैं। मेरे स्वभाव में मेरा मनुष्य के प्रति जो प्रेम है, वह ईश्वर के प्रति प्रेम के ऊपर हावी हो जाता है। मैं आध्यात्मिकता की बजाय नैतिकता के प्रति अधिक संवेदनशील हूँ। देवेन्द्रनाथ, केशव चन्द्र, विजयकृष्ण, या उमेशचन्द्र दत्त के समान स्वभाव लेकर मेरा जन्म नहीं हुआ।'[५]

---

५. 'डायरी' (बँगला) दिनांक २२।६।१८८८, जैसा कि बंग.ब्द १३८० के पौष-माघ महीने के 'आलेख्य' के पृष्ठ २६३ में छपा था।

कोमलहृदयवाले, सत्यप्रिय तथा साहसी शिवनाथ अपनी विद्वत्ता, कर्त्तव्यपरायणता एवं देश-भक्ति के कारण अपने अनुयायियों में अलग नजर आते थे। फिर भी उनकी स्वाभाविक प्रतिभा आध्यात्मिकता की बजाय साहित्यिक उपलब्धियों की ओर अधिक थी। बँगला साहित्य को उनकी देन का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि विपिन चन्द्र पाल जैसे लब्धप्रतिष्ठ राष्ट्र-प्रेमी वक्ता ने उनके सम्बन्ध में कहा था—

'यदि उन्होंने (शिवनाथ ने) प्राणपण से समूची चेष्टा अपनी स्वाभाविक साहित्यिक क्षमता और कविता-सृजन की प्रतिभा के विकास में लगा दी होती, तो उन्होंने ब्राह्म-नेता के रूप में देश की धार्मिक विचारधारा और कर्मक्षेत्र में जो स्थान आज प्राप्त किया, उससे कहीं ऊँचा स्थान बँगला साहित्य तथा सामाजिक जीवन के इतिहास में उनका होता। वैसे भी ब्राह्मसमाज में उन्होंने जो स्थान पाया, वह वास्तव में उनकी वक्तृताशक्ति और साहित्यिक उपलब्धियों के कारण ही था, न कि किसी असाधारण आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप।'[६]

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिवनाथ को लिखा था, "आपका साहित्य में अधिकार ईश्वर-प्रदत्त है।" तथापि शिवनाथ आस-पास की खींचतान, विशेषकर स्वयं से जुड़े हुए ब्राह्म-समाजी लोगों के आपसी अन्दरूनी मतभेद के कारण अपनी साहित्यिक सम्भावनाओं का स्वाभाविक एवं

६. 'साहित्य साधकमाला' (बँगला) में उद्धरित (प्रकाशक बंगीय साहित्य परिषद), खण्ड ७, पृ. ४२।

बहुमुखी विकास नहीं कर सके। फिर भी, सब मिलाकर, बचपन से जीवन में ऊपर उठने की उनकी अदम्य इच्छा और अनवरत प्रयासों तथा आशावादी दृष्टिकोण ने एवं नव-आलोक तथा प्रेरणा पाने की सतत खोज ने उनके जीवन को उस रूप में गढ़ दिया था, जिस रूप में वे थे।

पाश्चात्य धर्मनिरपेक्ष संस्थाओं के बढ़ते दबाव ने तथा बाद में ब्राह्मसमाज और ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू-समाज की की जानेवाली निन्दा ने हिन्दू-धर्म के सामने एक बहुत बड़ी चुनौती खड़ी कर दी। इस संकट की घड़ी में श्रीरामकृष्ण एक बहुत बड़े सहारे के रूप में उभरकर सामने आये। यद्यपि वे पण्डित या विद्वान् नहीं थे, पर 'जीवनरूपी शास्त्र' के स्वामी थे, जिसके चुम्बकीय प्रभावों ने बड़ेबड़े बुद्धिजीवी और चिन्तक लोगों को उनकी ओर खींचा था। उन्होंने यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि दिव्य जीवन किस प्रकार जिया जाता है। उनके लिए धर्म ही मनुष्य का सार था। धर्म से यदि उसकी सैद्धान्तिक जटिलताओं को निकाल दिया जाय, तो ऐसा धर्म उनकी दृष्टि में जीवन की समस्त मूलभूत समस्याओं को सुलझाने का सबसे सशक्त साधन था। हिन्दू-धर्म की शिराओं में उनके जीवन और उपदेशों ने एक नवीन शक्ति का संचार किया। फिर, उनकी भगवत्-उद्दीपना, उनका भगवान् तथा मनुष्य के प्रति ज्वलन्त विश्वास, नारीजाति के प्रति श्रद्धा, उनके चरित्र की निष्कलंक पवित्रता और समस्त धर्मों के प्रति उनका प्रेम और श्रद्धा, इस सबने उन्हें ब्राह्म-समाजी और हिन्दुओं में समान रूप से प्रिय बना दिया।

ऐतिहासिक दृष्टि से सन् १८७५ महत्त्वपूर्ण था; इस वर्ष के १५ मार्च को श्रीरामकृष्ण पहली बार केशव चन्द्र सेन से मिले। केशव चन्द्र सेन विशाल हृदय और गहरी आध्यात्मिक बैठ के धनी व्यक्ति थे। वे तुरन्त सन्त के व्यक्तित्व से प्रभावित हो गये और उन्होंने २८ मार्च १८७५ के 'इण्डियन मिरर' में 'दक्षिणेश्वर के योगी' की अपनी खोज को घोषित किया। स्वाभाविक ही तब केशव के प्रशंसक और ब्राह्म समाज के लोग श्रीरामकृष्ण में रुचि लेने लगे। इसके कुछ पहले से ही शिवनाथ ने अपने एक पड़ोसी से, जो लन्दन मिशनरी सोसायटी की शाखा में अध्यापक थे, सन्त के सम्बन्ध में सुना था। इस व्यक्ति की ससुराल दक्षिणेश्वर ग्राम में थी, इसलिए उसका दक्षिणेश्वर आना-जाना लगा रहता था। उसने शिवनाथ को श्रीरामकृष्ण की आकर्षक कहानी सुनायी, 'उनकी बातें और क्रियाकलाप' बतलाये तथा बहुधा उनके ज्ञानात्मक उपदेशों में से उद्धरण दिये। ये उपदेश सीधी-सादी और सहज समझ में आनेवाली भाषा में होने के साथ ही बड़े गम्भीर और सुन्दर थे। यद्यपि शिवनाथ अपनी स्वयं की जिम्मेदारी से अत्यन्त व्यस्त थे, फिर भी श्रीरामकृष्ण के उपदेशों ने उनके हृदय को झकझोर दिया और वे सन्त की ओर खिंचाव का अनुभव करने लगे।[८] इसलिए 'इण्डियन मिरर' के संवाद ने शिवनाथ के दक्षिणेश्वर जाने के निर्णय को तीव्रता प्रदान कर दी।

---

८. शिवनाथ शास्त्री : 'Men I have Seen' (साधारण ब्राह्म-समाज, कलकत्ता-६), पृ० ५६।

एक दिन, बहुतकर अप्रैल १८७५[९] को, शिवनाथ मिशनरी स्कूल के उस शिक्षक के साथ दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर पहुँचे । श्रीरामकृष्ण उस समय लगभग चालीस वर्ष के थे और शिवनाथ मात्र अट्ठाइस के। औपचारिक अभिवादन के बाद शिवनाथ और उनके साथी ने स्थान ग्रहण किया। श्रीरामकृष्ण शिवनाथ को देख प्रसन्न दीख पड़े । निस्सन्देह उन्होंने नवागन्तुक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को एकदम पहचान लिया था। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "लोगों को देखते ही मैं यह जान जाता हूँ कि कौन अच्छा है तथा कौन बुरा है, कौन सुजन्मा है और कौन कुजन्मा है, कौन ज्ञानी है और कौन भक्त है, किसको (धर्मलाभ) होगा····।"[१०] शिवनाथ को यह देखकर प्रसन्नता हुई कि परमहंस (जैसा कि उस समय श्रीरामकृष्णदेव कहलाने लगे थे) उनसे पूर्वपरिचित की भाँति व्यवहार कर रहे हैं। शिवनाथ ने विचार किया कि शायद उनके परिचित शिक्षक मित्र ने उनके सम्बन्ध में पहले से परमहंस को बतला रखा होगा, नहीं तो वे इतनी आत्मीयता से कैसे मिलते ?

---

९. शिवनाथ दक्षिणेश्वर सर्वप्रथम Indian Mirror में २८ मार्च १८७५ को श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में प्रकाशित हुए लेख के शीघ्र बाद ही गये थे। ऐसा लगता है कि यह यात्रा अप्रैल १८७५ के बाद की तो नहीं हो सकती।

१०. स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' (रामकृष्ण मठ, नागपुर) भा. १, प्रथम सं०, पृ० ३३ ।

कुछ ही क्षणों में शिवनाथ परमहंस से बहुत अधिक प्रभावित हो गये—विशेषकर उनकी असामान्य सरलता से। श्रीरामकृष्णदेव ने भी शिवनाथ के सम्बन्ध में ऊँची धारणा बना ली थी, जैसा कि उनके बाद के कथनों में मिलता है; जैसे—"अहा! शिवनाथ की कैसी भक्ति है! मानो रस में पड़ा हुआ रसगुल्ला।"[११] "शिवनाथ को देखने से मुझे बड़ा आनन्द होता है। मानो भक्तिरस में डूबा हुआ है।"[१२] "क्या शिवनाथ! तुम भी आये हो? देखो तुम लोग भक्त हो, तुम लोगों को देखकर बड़ा आनन्द होता है। गँजेड़ी का स्वभाव होता है कि दूसरे गँजेड़ी को देखते ही वह खुश हो जाता है; कभी तो उसे गले भी लगा लेता है।"[१३]

शिवनाथ श्रीरामकृष्ण की बच्चों-जैसी इस सरल और निष्कपट बात को 'बार बार' सुनकर कि "तुमसे मिलकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई है; बीच बीच में तुम यहाँ आओगे न?"[१४] बड़े द्रवित हो गये। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें यदि पहली नहीं तो तुरन्त बाद की भेंटों में यह बताया था कि वे पहले काली-मन्दिर में पुजारी थे। विभिन्न सम्प्रदायों के बहुत से साधु-संन्यासी मन्दिर में आया करते थे। वे लोग जिस जिस साधना-पद्धति का निर्देशन

११. 'म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' (रामकृष्ण मठ, नागपुर) भा० १, तृ० सं०, पृ० १६३।

१२. वही, पृ० ४६३।

१३. वही, पृ० १३४।

१४ 'Men I have Seen', पृ० ६०।

करते, उसका वे पूरी श्रद्धा के साथ पालन करते, और फलस्वरूप कुछ समय के लिए तो वे एक प्रकार से पागल ही हो गये थे। साथ ही उन्हें एक प्रकार के रोग ने घेर लिया था, जिसके कारण भाव होने पर वे बेहोश हो जाते।[१५]

यद्यपि श्रीरामकृष्ण का मन पाश्चात्य प्रणाली से शिक्षित और दीक्षित नहीं हुआ था, जैसा कि शिवनाथ का मन था, फिर भी शिवनाथ ने श्रीरामकृष्ण में एक प्रकाण्ड दार्शनिक, भक्त और सर्वोपरि एक सत्पुरुष को देखा। इस उच्चशिक्षा प्राप्त आगन्तुक को सबसे आश्चर्य इस बात का लगा कि श्रीरामकृष्ण के प्रेरक उपदेशों में

१५. 'आत्मचरित', पृ० १२८। स्पष्ट ही शिवनाथ को श्रीरामकृष्ण के कथनों से कुछ गलतफहमी हो गयी थी। उन्होंने स्वयं लिखा है कि श्रीरामकृष्ण ने एक बार अपने भानजे हृदय को धनी दर्शनार्थियों के सामने उनकी झूठी प्रशंसा करने से रोकने के लिए इस 'उन्माद' पर बड़ा जोर दिया था। (देखें Life of Ramaknishna अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, १९६४, पृ० २८२)। बाद में शिवनाथ की गलतफहमी दूर करने के लिए श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था : "अच्छा शिवनाथ, सुनते हैं तुम इसको रोग कहा करते हो ? और कहते हो कि मैं बेहोश हो जाता हूँ ? तुम ईंट, काठ, मिट्टी, रुपये-पैसे आदि जड़ वस्तुओं में दिन-रात चित्त संलग्न रखकर ठीक बने रहे और जिनकी चेतनता से यह संसार चैतन्यमय है, उनका दिन-रात चिन्तन कर मैं अचेत हो गया ! तुम्हारी यह कैसी बुद्धि है ?" (श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, भा० २, पृ० ३१४)

न केवल स्पष्टता थी, वरन् उनमें आध्यात्मिकता की गहराई भी थी। संक्षेप में श्रीरामकृष्ण के मोहक व्यक्तित्व से वे मुग्ध हो गये। बाद में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि श्रीरामकृष्ण 'निश्चय ही मेरे जीवन में आये सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में से एक' थे। उन्होंने आगे लिखा था–

'वास्तव में उनके साथ भेंट करने के बाद जो धारणा बनी, वह यह थी कि शायद ही कभी मैं अन्य किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति से मिला हूँ, जिसमें आध्यात्मिक जीवन के लिए इतनी तीव्र तड़प और लगन हो और जो धर्मसाधना के लिए इतनी अधिक कठोरता और कष्टों से गुजरा हो। दूसरी बात, मुझे यह विश्वास हो गया कि वे अब सिर्फ साधक या भक्ति-पथ के राही ही न रहे वरन् सिद्ध पुरुष हो गये हैं, जिन्होंने सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया है।'[१६] एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा था—

'इन कठोर साधनाओं का एक परिणाम यह हुआ कि श्रीरामकृष्ण का स्वास्थ्य हमेशा के लिए बिगड़ गया तथा वे अपनी इन अद्भुत धार्मिक साधनाओं में डूब कई आध्यात्मिक सत्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर अपूर्व मातृभाव की धारणा को लेकर ऊपर आये। उनमें एक और विशिष्टता थी। उनका महान् आध्यात्मिक सत्यों को और विशेषकर दिव्य मातृभाव को समझाने का तरीका बड़ा ही अलौकिक था। प्रायः वे रोजमर्रे के जीवन की अत्यन्त सामान्य और सुपरिचित घटनाओं को चुटकुलों के रूप में बताकर इन सत्यों को समझाते। उनके बतलाये

१६. 'Men I have Seen', पृ० ६६।

अधिकांश चुटकुले इतने सटीक और सरल होते कि लोग प्राय: अचरज में भरे उनसे गहरे आध्यात्मिक तत्त्वों की जानकारी पा जाते।'[१७]

दुर्भाग्य से इस महत्त्वपूर्ण प्रथम भेंट के सम्बन्ध में इसके अलावा और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, तथापि इसका महत्त्व परवर्ती घटनाओं से सहजता से लगाया जा सकता है। यद्यपि शिवनाथ ने साम्प्रदायिक और सामाजिक मान्यताओं के कारण अलग रहने की बहुत कोशिश की, पर श्रीरामकृष्ण का निष्ठावान् साधकों के प्रति जो तीव्र खिचाव था, उससे वे अपने को पूरी तरह से नहीं बचा सके। श्रीरामकृष्ण के पास वे कई बार गये, पर फिर भी अपनी ओर से पूरी चेष्टा करके उन्होंने अपने को उनके निकटवाली अन्तरंगता से दूर रखा। यद्यपि श्रीरामकृष्ण की कभी भूल न करनेवाली अन्तर्दृष्टि ने शिवनाथ की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को प्रकट किया था, फिर भी वे श्रीरामकृष्ण के प्रभाव से जितना लाभ उठा सकते थे नहीं उठा पाये। तो भी, श्रीरामकृष्ण का उनके प्रति जो प्रेम था, उसकी कोई सीमा न थी। स्वामी सारदानन्दजी ने सुन्दर रूप से इसे अभिव्यक्त किया है—

'भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज के बहुत से लोगों के सत्यानुराग, त्यागशीलता और धर्मपिपासा आदि सद्गुणों का परिचय पाकर श्रीरामकृष्णदेव उन्हें अपने अपने जीवनादर्श के अनुसार धर्मपथ पर अग्रसर कराने के लिए

१७. शिवनाथ शास्त्री : History of the Brahmo Samaj, खण्ड २, पृ० ७-८।

सचेष्ट हुए थे।...उन्हें इस बात को समझने में समय नहीं लगा कि ये लोग पाश्चात्य शिक्षा एवं पाश्चात्य भावग्रहण के कारण जातीय धर्मादर्श से विच्युत होकर बहुत दूर चले जा रहे हैं और वहुधा समाज-संस्कार को ही धर्मानुष्ठान का एकमात्र कार्य समझ बैठे हैं। इस कारण उन्होंने इन लोगों के भीतर यथार्थ साधनानुराग प्रबुद्ध कर दिया था और समाज उनके साथ इस मार्ग पर अग्रसर हो या न हो, उन लोगों को इस धारणा में निष्ठित करने का प्रयत्न किया था कि ईश्वर-लाभ ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।'[१८]

स्वाभाविक ही तब कुछ समय तक श्रीरामकृष्ण के प्रति शिवनाथ के दृष्टिकोण में विरोध दिखायी पड़ता है। और जब विजयकृष्ण गोस्वामी ब्राह्मसमाज छोड़कर पूर्णरूपेण आध्यात्मिक साधना में लग गये, तव ऐसा सोचकर कि पूरा नहीं तो कुछ तो जरूर ही श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का विजयकृष्ण के जीवन-परिवर्तन में प्रभाव पड़ा है, शिवनाथ ने श्रीरामकृष्ण के पास आना एकदम बन्द कर दिया। वास्तव में, शिवनाथ, जो साधारण ब्राह्मसमाज के नेता थे, ने खुले रूप से स्वीकार किया था—'यदि मैं वहाँ (श्रीरामकृष्ण के पास) जाता रहूँगा, तो ब्राह्मसमाज के दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसा करेंगे और परिणाम यह होगा कि समाज टूट जायगा।' यद्यपि उन्होंने अपने को सन्त के प्रभाव से मुक्त रखने का वहुत प्रयत्न किया, फिर भी कभी कभी अपने भीतर

१८. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग ३, पृ० ९।

उठनेवाले पश्चात्ताप और आत्म-ग्लानि को वे नहीं रोक पाते थे, और जीवन के अन्तिम दिनों में यह और अधिक प्रबल हो उठा था। इसलिए उनको यह स्वीकार करते देख आश्चर्य नहीं होता कि 'साधारण ब्राह्मसमाज यथार्थ में हमारे देशवासियों में आध्यात्मिक विचारों को ठीक से नहीं पनपा सका।'[१९] और यह कि 'मैं उस गम्भीर परिणाम को समझने में असफल रहा, जो साधारण ब्राह्म-समाज को ब्रह्मानन्द केशव चन्द्र सेन के विरोध में खड़ा करने से आनेवाला था। मैं अपने को उतनी आध्यात्मिक साधनाओं में लगाने में असफल रहा हूँ, जितना कि मुझे लगाना चाहिए था।'[२०]

यद्यपि शिवनाथ इस प्रकार श्रीरामकृष्ण को उतना नहीं स्वीकार कर पाये और उनके उपदेशों की उतनी अनुशंसा नहीं कर सके, जितना कि दूसरी परिस्थितियों में कर सकते थे, फिर भी श्रीरामकृष्ण का औदार्यपूर्ण प्रभाव उन पर कई तरह से स्पष्ट था। चूँकि वह अमिट था, इसलिए उसका प्रभाव उनके हृदय पर मन्थर गति से और मौनरूप से पर निश्चयपूर्वक हो रहा था। जैसा कि उन्होंने स्वयं व्यक्त किया था—'यद्यपि उनसे मेरा परिचय संक्षिप्त था, फिर भी बहुत से आध्यात्मिक विचारों को मुझमें सबल बनाने में वह सफल रहा था। उन्होंने मेरे प्रति जो

१९. 'डायरी', १२।६।१८८८, 'आलेख्य' में खण्ड ४, अंक ४, पृष्ठ २९२।

२०. वही, ६।१।१९१५, वही, खण्ड ४, अंक ३, पृ. १७९।

प्रेम प्रदर्शित किया, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ।'[२१] शिवनाथ के जीवनीकार लिखते हैं—'यह सच है कि श्रीरामकृष्ण के प्रति जो गहरा लगाव शिवनाथ के भीतर जगा था, उसका शिवनाथ पर स्थायी प्रभाव पड़ा था। उन्होंने धर्म की सार्वभौमता का भाव विशेष रूप से श्रीरामकृष्ण से पाया था।'[२२] इस सन्दर्भ में इससे भी उल्लेखनीय वक्तव्य हम शिवनाथ के 'आत्मचरित' में पाते हैं—'श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क से इस सत्य को जान पाया कि धर्म एक ही है, उसकी अभिव्यक्तियाँ विभिन्न हैं। इस प्रकार के औदार्यपूर्ण और धर्म के व्यापक विचारों से उनके उपदेश ओतप्रोत रहते थे....। श्रीरामकृष्ण की संगति में मैंने धर्म की सार्वभौमता को पूरे विश्वास के साथ अनुभव किया था।'[२३] उसी प्रकार ईश्वर के प्रति मातृभाव, जो श्रीरामकृष्ण को इतना प्रिय था, ने भी शिवनाथ को ब्राह्मसमाज के अन्य नेताओं की अपेक्षा कोई कम प्रभावित नहीं किया था। बहुत से लोगों को उनकी प्रामाणिक जीवनी से यह जानकर आश्चर्य होगा कि शिवनाथ प्रतिदिन सुबह संस्कृत में स्वरचित गुरु-स्तुति का पाठ करते थे, जिसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं—

'रामकृष्ण जिन्होंने शक्ति की उपासना से पूर्णता हासिल की थी और जो दिव्य मातृभाव से भावित....थे ऐसे पुरुष और स्त्रियाँ सब मेरे गुरु हैं। उनके बारे में विचार कर,

२१. Men I have Seen. से भावित पृष्ठ ७७।

२२ 'शिवनाथ-जीवनी', पृ० १४६।

२३. 'आत्मचरित' (बँगला), पृ० १२८।

उनका स्मरण कर मुझे अपनी धार्मिक साधनाओं में बड़ा बल मिलता है।'[२४]

शिवनाथ की धारणा थी कि साधारण ब्राह्मसमाज द्वारा प्रस्तुत किया गया ब्राह्म-धर्म ईश्वर-प्रदत्त धार्मिक व्यवस्था[२५] थी और वही युग का धर्म था।[२६] फिर उन्होंने ब्राह्म-आन्दोलन के नेता-पद को दैवी आदेश मानकर स्वीकार किया था। पर परवर्ती वर्षों में उन्होंने अपनी बहुत सी और गहरी कमजोरियों पर पश्चात्ताप भी किया था। १९०३ में उन्होंने स्वीकार किया था कि ब्राह्मसमाज का आध्यात्मिक स्तर निम्न था और उनकी स्वयं की स्थिति और भी खराब थी।[२७] अपने ६८ वें साल के अन्त में उन्होंने स्वीकार किया था कि आध्यात्मिक जीवन की गहराई की खोज में उन्होंने लापरवाही बरती थी और स्वयं की आध्यात्मिक प्रगति की कीमत पर उन्होंने ब्राह्म-धर्म के प्रचार के लिए अपने को खपा दिया। इससे

---

२४. रामकृष्णः शक्तिसिद्धो मातृभावसमन्वितः।
. . . .

एते मे गुरवः सर्वे योषितः पुरुषाश्च ये।
स्मृत्वैतान् महतीं शक्ति लभेऽहं धर्मसाधने॥

'शिवनाथ-जीवनी', पृ० २८९

२५. प्रफुल्ल कुमार दास : 'शिवनाथ शास्त्रीर अप्रकाशित वक्तृता ओ स्मारकलिपि' (बँगला), (फार्मा के. एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९७५), पृ० ८५।

२६. वही, पृ० ७३।

२७. वही, पृ० ३।

उनका ईश्वर के प्रति विश्वास और समर्पण कम हो गया।[२८] श्रीरामकृष्ण या शिवनाथ के जीवन को गम्भीरता से समझने की चेष्टा करनेवाला व्यक्ति शिवनाथ के जीवन पर श्रीरामकृष्ण के गहरे और दीर्घ प्रभाव को कैसे नजर-अन्दाज कर सकता है, जो धर्म की व्यवस्था 'होने और बनने' (being and becoming) के रूप में करते थे? निश्चित ही श्रीरामकृष्ण और उनके उपदेश शिवनाथ को ३०-९-१९१९ तक उनकी मृत्युपर्यन्त प्रेरणा देते रहे।

२८. वही, पृ० ५-६।

●

नया प्रकाशन नया प्रकाशन

भजनांजलि

श्रीरामकृष्ण-सारदादेवी-विवेकानन्द विषयक भजन, विभिन्न देवी-देवताओं की वन्दनाएँ तथा अनेक भक्त कवियों द्वारा गाये हिन्दी एवं संस्कृत भजनों को राग और ताल में सुसम्बद्ध रूप से इसमें प्रस्तुत किया गया है।

पृष्ठ १७६, मूल्य ८), डाकखर्च अलग

प्राप्ति स्थल—विवेक-ज्योति कार्यालय, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

विभीषण-शरणागति (७।१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेका-नन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर विभीषण-शरणागति' पर सात प्रवचनों की एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। इसके छः प्रवचन अब तक 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किये जा चुके हैं। यह सातवाँ प्रवचन कुछ लम्बा होने के कारण 'विवेक-ज्योति' के तीन अंकों में प्रकाशित किया जायगा। प्रस्तुत लेख सातवें प्रवचन की पहली-तिहाई है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। —स०)

श्री विवेकानन्द आश्रम के इस पवित्र प्रांगण में प्रभु की मंगलमयी अनुकम्पा से श्री विवेकानन्द जयन्ती के इस पावन अवसर पर भगवच्चरित्र की चर्चा करके मुझे अत्यन्त धन्यता का अनुभव हुआ। यह केवल औपचारिकता की ही बात नहीं कह रहा हूँ। मुझे सारे देश में ही जाना पड़ता है और बहुसंख्य लोगों को भगवत्कथा सुनाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। पर कुछ स्थान ऐसे होते हैं, जहाँ पहुँचकर मेरे मन में अधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। ऐसे जो गिने-चुने स्थान हैं, उनमें से एक यह रायपुर का आश्रम है। सर्वत्र यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता कि

किसी महापुरुष की कृपा से लोगों के अन्तःकरण में साधना और सेवा की सद्वृत्ति आवे। सारे देश के लोग, और विशेषरूप से आप लोग, महान् सौभाग्यशाली हैं, जो इतने बड़े महापुरुष का सान्निध्य आपको प्राप्त है। मुझे विश्वास है कि आप अवश्य अपने भाग्य की सराहना करते होंगे। मैंने जैसा आपसे अभी कहा कि मुझे यहाँ बोलकर, साधना की बात कहकर बड़े आनन्द की अनुभूति होती है। पर जब मैं श्रद्धेय स्वामीजी को सामने नीचे बैठे हुए देखता हूँ, तो बड़े संकोच का अनुभव होता है। लेकिन उन्हें सामने बैठे देखकर कथा कहने में मुझे जो प्रेरणा प्राप्त होती है, उस प्रलोभन के कारण यह अशिष्टता भी मैं कर लेता हूँ, यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि यह उचित नहीं है। फिर, यह कितनी बड़ी बात है, उनका यह कितना बड़ा वात्सल्य है कि नीचे बैठकर वे एक मर्यादा की परम्परा स्थापित कर आपके सामने एक प्रेरणा देते हैं। मैं उनके और आश्रम के प्रति कृतज्ञ हूँ। आश्रम के ब्रह्मचारियों के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनसे बातचीत करके मुझे बड़ा आनन्द आता है, क्योंकि मैं तो केवल बात ही करता हूँ और ये लोग अपने जीवन में तत्त्व को उतारे हुए हैं। इसीलिए यहाँ मुझे चर्चा की सार्थकता अधिक जान पड़ती है और जिस आनन्द का मैं अनुभव करता हूँ, उसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्द यथेष्ट नहीं हैं।

अब आइए, विभीषण-शरणागति प्रसंग का उपसंहार संक्षेप में आपके सामने रखा जाय। आज इस अन्तिम प्रवचन में विभीषण का भगवान् राम से मिलन करा ही देना होगा।

इसीलिए प्रारम्भ में मैंने मिलन की पंक्तियाँ पढ़ीं। विभीषण शरणागति को चाहे व्यवहार-शास्त्र की बहिरंग दृष्टि से देखें, चाहे आध्यात्मिक साधना की अन्तरंग दृष्टि से, दोनों ही दृष्टियों से यह प्रसंग बड़ा प्रेरक है। पूर्व प्रवचन में हमने जैसा कहा था, भगवान् राम और रावण का संघर्ष उस प्रकार का नहीं है, जैसा कि बहुधा समाज में देखा जाता है। इस युद्ध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह व्यक्तिगत हानि और लाभ के लिए भगवान् राम के द्वारा नहीं लड़ा गया, बल्कि एक महत् आदर्श के लिए लड़ा गया। यदि हम रामायण के अन्तरंग में पैठकर व्यवहार-शास्त्र की दृष्टि से भी इस युद्ध को देखें, तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह राम-रावण-युद्ध मात्र कुछ दिनों तक लड़ा गया ऐसी बात नहीं, अपितु वह तो निरन्तर लड़ा जा रहा है। यही कारण है कि गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में इस युद्ध के प्रारम्भ और समाप्ति की तिथियाँ नहीं लिखीं। यह भी नहीं लिखा कि यह युद्ध कितने दिनों तक लड़ा गया। इसके लिए हमें अन्य ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ेगा, जहाँ यह बताया गया है कि यह युद्ध इक्कीस दिनों तक लड़ा गया। ऐसा लगता है कि जब गोस्वामीजी ने इतना बड़ा ग्रन्थ लिखा, तो इतना और लिख दिया होता। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

एक दिन कथा के अन्त में एक सज्जन ने कहा कि गोस्वामीजी सहज में यह बात अपने ग्रन्थ में लिख सकते थे। हाँ, लिख तो सकते थे, पर ऐसी बहुत सी बातें हैं, जो गोस्वामीजी के ग्रन्थ में नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह

प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी अपने राम-चरित्र को उतना इतिहासपरक नहीं बनाना चाहते थे। इसका अर्थ यह नहीं ले लेना चाहिए कि गोस्वामीजी भगवान् राम के चरित्र को इतिहास नहीं मानते। वे श्री राम के चरित्र को इतिहास मानते हुए भी यह मान्यता घोषित करते हैं कि भगवान् राम का अवतार होता है और ईश्वर राम के रूप में अवतीर्ण हो रावण का वध करते हैं। इतना होते हुई भी यदि हम भगवान् राम के चरित्र को केवल इतिहासपरक दृष्टि से पढ़ें, तो हम उनके चरित्र की व्यापकता का पूरा लाभ नहीं ले सकेंगे। अभिप्राय यह है कि यह बात उतने महत्त्व की नहीं कि युद्ध कब शुरू हुआ और कितने दिन चला, महत्त्व की बात यह है कि इस युद्ध के वास्तविक अर्थ को समझकर हम उससे अपने जीवन में क्या प्रेरणा ले सकते हैं इसे समझें।

गोस्वामीजी ऐसी बहुतसी बातों को उतना महत्त्व नहीं देते, जिन्हें इतिहासकार या भूगोलकार अधिक महत्त्व दिया करते हैं। यदि हम राम-रावण-युद्ध पर 'रामचरितमानस' की दृष्टि से विचार करें, तो हमें लगेगा कि वह मात्र इक्कीस दिनों तक नहीं लड़ा गया, अपितु वह तो प्रतिदिन क्षण-प्रतिक्षण लड़ा जा रहा है। जो लंका के रणांगन में लड़ा गया, वह तो युद्ध का एक अन्तिम उपसंहार था। यदि हम थोड़ी गहराई से विचार करें, तो देखेंगे कि जैसी घटनाएँ, जैसे पात्र, जैसे व्यक्ति के रावण के जीवन में आते हैं, वैसी ही घटनाएँ और वैसे पात्र भगवान् राम के जीवन में भी आते हैं। यदि तुलनात्मक दृष्टि से

देखें, तो पाएँगे कि समान परिस्थितियों में भगवान् राम और रावण के व्यवहार में कितना अन्तर है। और यह अन्तर ही दोनों के चरित्र को अलग बना देता है तथा हमारे सामने दो प्रकार के आदर्श प्रस्तुत करता है। अब यह हम पर है कि हम किस आदर्श का, किस मार्ग का चुनाव करें।

अभी तो 'रामचरितमानस' के युद्ध की तुलना का समय नहीं है, पर संक्षेप में इसे यों देखा जा सकता है कि एक ओर भगवान् राम के भाई भरत हैं, तो दूसरी ओर रावण के भाई विभीषण। अब दोनों के व्यवहार का पार्थक्य देखिए। रावण के द्वारा विभीषण को लात मारकर निकाल दिया जाता है और श्री भरत के द्वारा श्री राम की पादुकाओं की पूजा की जाती है। इन दोनों में जो साम्य-वैषम्य है, उसपर आप ध्यान दें। भरत अयोध्याकाण्ड में एक बात कहते हैं—

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी।
जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥
मोरें सरन रामहि की पनही॥
राम सुस्वामि दोसु सब जनही॥ २।२३३।१-२

—'श्री राम चाहे मलिन मन जानकर मुझे त्याग दें, चाहे अपना सेवक मानकर मेरा सम्मान करें, मेरे तो श्री रामचन्द्र की जूतियाँ ही शरण हैं।' अर्थात् भरत के लिए श्री राम की चरणपादुकाएँ ही परम आराध्य हैं। और रावण अपनी पादुका का यानी अपने पद का क्या उपयोग करता है? वह विभीषण की छाती पर उसका प्रहार

करता है। अब ईश्वर ने मनुष्य को जो चरण दिया है, वह किसी को मारने के लिए नहीं, बल्कि आधार के लिए, गति के लिए, लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, दूसरे की सेवा के लिए। समूचे शरीर में चरण सबसे नीचे है और वह सारे शरीर का बोझ ढोता है। उसी पर सारा शरीर टिका हुआ है। ईश्वर ने जो वस्तु जिस उद्देश्य से दी है, उसको उसी कार्य में लगाना ही उचित है। पर रावण ऐसा नहीं करता, वह अपने पद का दुरुपयोग करता है। अब इस 'पद' शब्द को आप दोनों अर्थों में ले सकते हैं—चरण के अर्थ में भी तथा अधिकार के अर्थ में भी। दोनों अर्थों का उद्देश्य एक ही है। चरण के अर्थ में पद सारे शरीर का बोझा उठाये रहता है और अधिकार के अर्थ में भी वह तभी सार्थक है, जब समाज का बोझा उठाये। सच्चा पदाधिकारी वह है, जो दूसरों का बोझा उठाकर हल्का कर देता है। जीवन की सार्थकता इसमें है कि पद का सदुपयोग किया जाय। पर रावण दुरुपयोग करता है। ऐसी बात नहीं कि रावण के जीवन में कोई कमी थी, या कि वह एक अभागा व्यक्ति था। यदि कोई मुझसे पूछे कि रावण सौभाग्यशाली था या अभागा, तो मैं कहूँगा कि वह अभागा-सौभाग्यशाली था। उसके लिए एक नया शब्द बनाना पड़ेगा। वह भाग्यशाली इसलिए था कि उसे शक्ति प्राप्त थी और अभागा इसलिए कि उसने प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग किया। पैर तो उसे चलने के लिए मिला था, पर वह उससे प्रहार करता है, मानो वह उन्मत्त हो गया था। जैसे शराबी नशे में चूर हो, मुँह के बल नाली में गिरा

पड़ा रहता है, चलता है तो उसके पैर लड़खड़ाते हैं, उसी प्रकार जो सत्ता की मदिरा पीकर उन्मत्त हो जाता है, वह रावण के ही समान अविवेकी हो जाता है और अपनी प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करने लगता है। तभी तो रावण का पद छीन लिया जाता है और भगवान् राम उसके बदले विभीषण को लंकेश के पद पर अभिषिक्त करते हैं। रावण मान बैठा था कि इस पद पर मेरी सत्ता शाश्वत है। सत्ता के मद में चूर व्यक्ति भूल जाया करता है कि कोई भी पद शाश्वत नहीं है। अंगद ने रावण की सभा में आकर यही तो प्रदर्शित किया। वे रावण की सभा में अपने पैर को रोपकर कहते हैं—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥ ६।३३।६

—अरे मूर्ख, यदि तू मेरा पद डिगा सके, तो श्री राम लौट जाएँगे, वे युद्ध में पराजय स्वीकार कर लेंगे और सीता को हार जाएँगे। इसका प्रतीकात्मक संकेत यह है कि रावण अपने पद को अचल मानता है, पर दिखायी यह देता है कि बन्दर का पद अचल है। जब अंगद पृथ्वी पर मुक्के का प्रहार करते हैं, तो रावण मुँह के बल गिरते गिरते बचता है। इसके द्वारा अंगद मानो यह बताना चाहते हैं कि रावण, देख लो, संसार का कोई पद, कोई सत्ता अचल नहीं है। जब तुम्हारा सिंहासन बन्दर के प्रहार से चलायमान हो सकता है, तो तुम अपने जीवन में अचलता की आशा कैसे कर सकते हो? और दूसरी ओर अंगद ने अपना पैर रोपकर यह बता दिया कि एक बन्दर

के पैर का अचल हो जाना यह सूचित करता है कि यदि किसी ने सच्चे अर्थों में ईश्वर की शरण ले ली है, भगवद्-भक्ति का आश्रय ले लिया है, तो वह साधारण व्यक्ति होकर भी अचलता प्राप्त कर ले सकता है।

तो, एक ओर रावण है, जो अपने अधिकार में उन्मत्त हो, अपनी सत्ता का दुरुपयोग कर अपने भाई को शत्रु बना लेता है और उससे कहता है—

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।
सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती ॥ ५।४०।५

—'मेरे नगर में रहकर शत्रु से प्रेम करता है। निकल जा और उन्हीं को अपनी नीति बता,' और दूसरी ओर हैं भगवान् राम, जो अपने भाई के लिए अयोध्या के राज्य का परित्याग कर देते हैं। फिर भगवान् राम का दर्शन कितना व्यापक है! जब वे अयोध्या छोड़कर चित्रकूट की ओर चलते हैं, तो दशरथजी सुमन्त्र को आदेश देते हैं कि आप राम आदि को रथ से ले जाएँ और चार दिन वन में घुमाकर लौटा लाएँ। सुमन्तजी जब रथ लाते हैं, तो श्री राम उसमें बैठना स्वीकार कर लेते हैं। क्या श्री राम ने रथ में बैठना इसलिए स्वीकार किया कि पिता की आज्ञा थी? यदि ऐसी बात थी, तो उन्होंने पिता की वह आज्ञा तो नहीं स्वीकार की, जिसमें पिता ने चार दिन रथ में घूमकर वापस लौट आने का निर्देश दिया था। यह अद्भुत सी बात दिखायी देती है। यहाँ रथ में बैठने में भगवान् राम का दृष्टिकोण क्या था?

बहिरंग दृष्टि से ही देखें, तो भगवान् राम के समान

विश्व में और कोई लोकप्रिय हुआ ही नहीं। वे जब अयोध्या छोड़कर जाते हैं, तो वहाँ की सारी प्रजा उनके पीछे चल पड़ती है। वैसे संसार में जब व्यक्ति किसी पद पर आसीन हो जाता है, मंत्री या अध्यक्ष पद पर चुना जाता है, तो उसके पीछे भागनेवाले लोग तो दिखायी देते हैं, पर जब किसी का पद छिन जाता है, तो उसके पीछे लोग भाग रहे हों ऐसा नहीं देखा जाता। मुझे एक घटना याद आती है। मैं एक सज्जन के यहाँ ठहरा हुआ था। उनके पास एक बड़े व्यक्ति के पुत्र का टेलीफोन आया। मेरे मेजबान के सेक्रेटरी ने फोन लिया और आकर मेजबान से कहा कि वे आपसे मिलना चाहते हैं। सुनकर मेरे मेजबान ने कहा—कह दो कि हम आज दो-चार दिन के लिए बाहर जा रहे हैं, लौटकर आएँगे तो मिलेंगे। मेरे मेजबान लोकसभा के सदस्य थे और देश के एक पूँजीपति भी। बाद में चर्चा चली तो मैंने पूछा कि फोन करनेवाले सज्जन कौन थे? उन्होंने बड़े संकोच से उत्तर दिया कि क्या बताएँ, वे देश के एक बहुत बड़े व्यक्ति के पुत्र हैं। पहले हम लोग उनसे मिलने का समय लिया करते थे और अब वे बेचारे हमसे समय लिया करते हैं। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति वहाँ जाता है, जहाँ पद है, सत्ता है, लाभ की आशा है। जहाँ यह सब नहीं है, वहाँ कौन जायगा? वे तो भगवान् राम ही हैं, जिनका राज्य छिन जाता है, फिर भी जिनके पीछे अयोध्या की सारी प्रजा उमड़ पड़ती है और पीछे पीछे चलती है। प्रभु उन सबको प्रेम से समझाते हैं और समझाने पर वे लौट तो जाते हैं, पर

'फिरहिं प्रेम बस पुनि फिर आवहिं' (२।८२।४)—प्रेम के कारण पुनः लौट आते हैं और प्रभु के पीछे पीछे चलने लगते हैं। वे लोग एक ओर श्री राम के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन करते हैं, तो दूसरी ओर भरत के प्रति, कैकेयी की इच्छा के प्रति विद्रोह। यह भगवान् राम के सामने एक समस्या खड़ी कर देता है। वह यह कि ऐसी परिस्थिति में यदि कैकेयी अपने पुत्र को राज्य देना चाहती हैं, तो वह ईंट और पत्थर के भवनों पर, जड़ वस्तुओं पर ही राज्य होगा, चेतन वस्तुओं पर नहीं। कोई व्यक्ति उस राज्य में नहीं रहना चाहेगा। सारी प्रजा का राम के पीछे भागना यही प्रदर्शित करता है। कल्पना कीजिए यदि भगवान् राम के स्थान पर इस युग का कोई राजनीतिज्ञ होता, तो उसे यह देख अपार आनन्द होता कि सारी प्रजा भड़क गयी है। वह तो प्रजा के रोष को और भी उभाड़ देता, जिससे होनेवाले राजा के प्रति विद्रोह भड़क उठे। पर भगवान् राम के मन में दूसरी ही बात आती है और वे रथ में बैठ जाते हैं। इस क्रिया के पीछे उनकी दो दृष्टियाँ हैं। एक यह कि यदि वे रथ में न बैठें, तो सम्भवतः पिताजी सोचने लगें—'राम मुझसे रुष्ट है, इसलिए शायद वह सोच रहा है कि पहले तो मुझे देशनिकाला दे दिया और अब रथ दे रहे हैं, जले पर मानो नमक छिड़क रहे हैं, इसीलिए वह रथ में नहीं बैठा।' और ऐसा विचारकर राम रथ में बैठना स्वीकार कर लेते हैं, जिससे पिताजी की भावना का आदर भी हो जाय। उनकी दूसरी दृष्टि इससे भी गहरी है। वे तो मानो आगे की घटनाओं को भी देख

ले रहे हैं। वे जानते हैं कि अयोध्या की यह प्रजा एक दिन पुन: चित्रकूट की ओर जायगी और तब मेरे स्थान पर भरत होंगे। इसलिए श्री राम प्रजा के मन पर एक छाप डालकर अपने और भरत के अन्तर को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। वे रथ में बैठ जाते हैं और सारी प्रजा उनके पीछे पीछे पैदल भाग रही है। प्रभु जान-बूझकर यह नाटक करते हैं। सारी प्रजा प्रभु के पीछे दिन भर चलती रही और प्रभु रथ पर बैठे रहे, और रात को जब सारी प्रजा सो गयी तो छोड़कर चले गये। जब भरत चित्रकूट की ओर चले, तो उन्होंने नागरिकों के लिए रथ और अन्य वाहनों का प्रबन्ध किया और स्वयं पैदल चले। प्रभु अयोध्या के नागरिकों के मन पर यह छाप डालना चाहते थे कि अब तुम लोग विचार करके देख लो कि कौन राजा अच्छा रहेगा—मैं, जो स्वयं रथ पर बैठकर तुम्हें पैदल चलाता रहा या भरत, जो रथ पर तुम लोगों को बैठाकर स्वयं पैदल चलता है ? मेरा मत पूछो तो भरत का राज्य मेरे राज्य की अपेक्षा अधिक महान् होगा, तुम उसके राज्य में रहकर अधिक सुख प्राप्त करोगे। प्रभु चाहते यह हैं कि जो व्यक्ति सत्ता में आनेवाला है, उस भरत के चरित्र की महिमा का लोग अनुभव करें और उसके प्रति उनके मन में प्रेम जागृत हो।

तभी तो भगवान् राम महर्षि वाल्मीकि से कहते हैं—मुनिवर, मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ, जो मेरी वन आने की इच्छा पूर्ण हो गयी। साथ में पिताजी के सत्य की रक्षा हो गयी और मेरी कैकेयी-अम्बा का हित हुआ।

इस पर वाल्मीकि यह कह सकते हैं कि एक व्यक्ति के हित के लिए लाखों व्यक्तियों के हित का बलिदान कर देना क्या उचित है? तुम्हारी प्रजा तुम्हें राजा के रूप में देखना चाहती थी। क्या तुम्हारे लिए यह उचित था कि तुम सारी प्रजा की भावनाओं का तिरस्कार कर दो व्यक्तियों के स्वार्थ के लिए राज्य छोड़कर चले आये? इस पर भगवान् राम बड़े गौरव से उत्तर देंगे—

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। २।१२५

—मुनिराज, क्या मेरा राज्य भरत के राज्य के समान कभी हो सकता है? प्रजा के प्रति त्याग और प्रेम की वृत्ति एकमात्र भरत में ही है, मुझमें तो उसका एक अंश भी नहीं है। यह भरत के प्रति श्रीराम के अपार प्रेम का निदर्शन है।

पर श्री भरत इस प्रसंग पर अपना अलग विचार रखते हैं। वे तो भगवान् राम को ही अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकारी समझते हैं और अपने पिता के निर्णय की निन्दा करते हैं। यदि भगवान् राम चाहते तो अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर सकते थे। आजकल प्रत्येक व्यक्ति अन्याय के विरुद्ध लड़ने को तैयार है। घर में, परिवार में, नगर में, जिसे देखो वही कहता है—हम अन्याय नहीं सहेंगे। आश्चर्य तो यह है कि इतने लोग अन्याय के विरुद्ध लड़ रहे हैं, फिर भी अन्याय बढ़ता ही जा रहा है। अन्याय मानो रक्तबीज हो गया है, जो काटने पर और भी बढ़ता जाता है। वैसे तो भगवान् राम भी कह सकते थे कि कैकेयीजी मोह में आसक्त होकर मेरे प्रति अन्याय कर

रही हैं और मैं इस अन्याय को नहीं सहूँगा। पर भगवान् राम ऐसा नहीं करते, वे तुरन्त वन चले जाते हैं। उनको इसमें कोई अन्याय नहीं दिखता। हमारी दृष्टि में न्याय वह है, जिससे हमारा स्वार्थ पूरा होता है। हम जो चाहते हैं, उसे न्याय मानते हैं और सामनेवाला जो करता है, उसे अन्याय। पर भगवान् राम और श्री भरत के लिए न्याय-अन्याय की यह परिभाषा बदल जाती है। भरत यह मानते हैं कि पिताजी की बुद्धि भले ही जीवन भर अच्छी रही हो, पर उन्होंने श्री राम से राज्य लेकर मुझे देने का जो निर्णय किया इससे तो यही लगता है कि **'मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही'**(२।१६१।३)—उनकी मति मृत्यु के समय मारी गयी थी। श्री भरत का तर्क यह है कि पिताजी ने कैकेयी-अम्बा को दो वरदान तब दिये थे, जब माँ ने एक समय युद्धक्षेत्र में पिताजी के रथ के पहिए को गिरने से रोक लिया था। यदि रथ का पहिया गिर जाता, तो पिताजी गिर जाते और उन्हें चोट लग जाती। तात्पर्य यह है कि पिताजी ने माँ को वरदान देने का वचन इसलिए दिया था कि उन्होंने पिताजी के शरीर की रक्षा की थी। पर अब जब माँ उनके प्राण लेने पर तुल गयीं, तब शरीर-रक्षा के लिए दिया हुआ पुरस्कार अपने आप में व्यर्थ हो गया, क्योंकि पुरस्कार का आधार ही खत्म हो गया। जैसे किसी व्यक्ति को ईमानदारी पर पुरस्कार घोषित हुआ, और कल वह यदि बेईमानी करे और अपना घोषित पुरस्कार माँगना चाहे, तो उसे ईमानदारी का पुरस्कार कैसे मिल पाएगा ? ऐसे ही कैकेयी-अम्बा एक

दिन महाराज दशरथ के प्राणों की रक्षा कर वरदान पाने की अधिकारिणी हुई थीं। पर आज वे ही श्री राम को वन भेज महाराज दशरथ के मानो प्राण लेने पर तुली हुई हैं, क्योंकि महाराज दशरथ स्वयं कहते हैं—**'राम बिरहँ जनि मारसि मोही'** (२।३३।७)। ऐसी दशा में भरतजी की दृष्टि में कैकेयी-अम्बा के वरदान प्राप्त करने की पात्रता नहीं रह गयी। अतः महाराज दशरथ ने यदि कैकेयीजी की माँग के लिए 'नाही' कर दिया होता, तो वह भरत की दृष्टि में महाराज दशरथ का उचित निर्णय होता। पर चूँकि उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसलिए भरत मानते हैं कि मृत्यु के समय पिताजी की मति मारी गयी।

अगर कोई भरत से तर्क करे कि भाई, आखिर वचन तो वचन है और एक बार जब महाराज दशरथ ने कैकेयीजी को वचन दे दिया, तो उसकी रक्षा करना उनका धर्म है ? उस पर श्री भरत का तर्क यह है कि ठीक है, महाराज श्री दशरथ ने कैकेयी-अम्बा को वचन दिया, पर उन्होंने एक दूसरा वचन भी तो दिया। पहले वचन के समय तो पिताजी के सामने केवल कैकेयी-अम्बा ही थीं, पर इस दूसरे वचन को जिसमें उन्होंने श्री राम को राज्य देने की घोषणा की, उन्होंने सारी प्रजा के सामने घोषित किया। उन्होंने गुरु वसिष्ठ से कहा कि आप जाकर सूचना दे दीजिए कि कल राम का राज्याभिषेक होनेवाला है। तो, कैकेयी-अम्बा के सामने दिया वचन वचन हो गया और इतने लोगों के सामने दिया वचन वचन नहीं हुआ ? यह कैसा न्याय है ? कैसा सत्य है ? जब कैकेयी-अम्बा ने

वरदान माँगने चाहे, तो पिताजी को कह देना था कि मैंने राज्य देने का वचन पहले ही श्री राम को दे दिया है, अब तुम और कोई दूसरी चीज माँगना चाहो तो माँग लो। यदि पिताजी ने ऐसा किया होता, तब सचमुच सत्य की रक्षा होती। लगता है कि पिताजी न तो अपने सत्य की रक्षा के लिए कोई निर्णय ले पाये, न न्याय के लिए ही। यह श्री भरत की दृष्टि है, उनकी व्याख्या है।

भगवान् राम भी ऐसी ही व्याख्या कर सकते थे, क्योंकि यह व्याख्या सटीक और युक्तियुक्त है। पर वे वैसा नहीं करते, अपितु अपने पिता द्वारा दिये गये वचन को न्यायसंगत बतलाते हैं। वे कहते भी हैं कि मेरे पिता इतने महान् थे कि—**'राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी'** (२।२६३।६)—उन्होंने मुझे त्यागकर अपने सत्य की रक्षा की। भगवान् राम को अपने पिता के कृत्य में कोई अन्याय नहीं दिखता। उनका तर्क यह है कि यदि कोई व्यक्ति किसी से ऋण लेता है और बाद में वह ऋणी व्यक्ति कहीं से बहुतसा धन पा लेता है, तो उसका पहला कर्तव्य यह होगा कि वह पुराना ऋण चुका दे और जो धन बचे, उसे अपने काम में ले। यदि ऋणी व्यक्ति धन पाने के बावजूद ऋण न चुकाए, तो ऋण देनेवाले को उससे यह कहने का पूरा अधिकार है कि आप पहले हमारा ऋण चुकाइए। इसी प्रकार पिताजी मेरी माँ के ऋणी थे और बिना माँ का ऋण चुकाये वे मुझे राज्य देना चाहते थे। अतः माँ को पूरा अधिकार है उन्हें रोकने का और यह कहने का कि आपको राज्य देने का अधिकार नहीं है, पहले आप मेरा ऋण चुकाइए, फिर

बाद में दूसरे को दीजिए। अतः यदि पिताजी ने माँ को ऐसा वचन दिया है, तो उन्होंने कोई अन्याय नहीं किया है, न ही कैकेयी-अम्बा ने कोई भूल की है। यह भगवान् राम का दृष्टिकोण है। वे न्याय उसे मानते हैं, जिससे भरत को राज्य मिले और अपना स्वार्थ-त्याग हो। और भरत भी न्याय उसे मानते हैं, जिससे श्री राम को राज्य मिले।

तो, श्री राम और श्री भरत दोनों की परिभाषा वह है, जिससे स्वयं के हिस्से में भोग के बदले त्याग पड़े, जिसमें संघर्ष के स्थान पर एक दूसरे को देने की वृत्ति हो। यही रामराज्य है। जहाँ उचित लेने-देने की वृत्ति है, वह धर्मराज्य है और जहाँ परस्पर देने की वृत्ति है, वह रामराज्य। श्री राम और श्री भरत अपने चरित्र के माध्यम से यही दर्शन प्रस्तुत करते हैं।

श्री भरत जब चित्रकूट से लौटकर आये, तो उन्होंने **'सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि'** (२।३२३)—प्रभु की चरणपादुकाओं को निर्विघ्नतापूर्वक सिंहासन पर विराजित करा दिया। अयोध्या के लोग चकित हो गये। यह एक नयी बात थी। आज तक सिंहासन पर राजा विराजित होता था, उसको तिलक कराया जाता था, पर यह किसी ने नहीं देखा था कि सिंहासन पर चरणपादुका को, पदत्राण को, जूते को विराजित कराया जाय। इस प्रकार श्री भरत ने संसार के समक्ष एक नये आदर्श, एक नये दर्शन की स्थापना कर दी। वे कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ते, चौदह वर्ष तक राज्य चलाने के लिए तैयार हैं, केवल वे भगवान् राम से आधार की याचना करते हैं—**'बिनु अधार मन तोषु न**

साँती' (२।३१५।२)—क्योंकि बिना किसी आधार के उनके मन में न सन्तोष होगा, न शान्ति। तब—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्ही ॥२।३१५।४

—प्रभु ने कृपा करके खड़ाऊँ दे दीं और भरत ने उन्हें आदरपूर्वक सिर पर धारण कर लिया। यहीं पर भगवान् राम और रावण का अन्तर प्रकट होता है। क्या विभीषण रावण के चरणों को हृदय से नहीं लगा सकते थे? क्या लक्ष्मण भगवान् श्री राम के चरणों को हृदय से नहीं लगाते हैं? छोटा भाई जब बड़े भाई के चरणों को दबाता है, तो क्या वह उन चरणों को हृदय के पास नहीं ले जाता है? तो विभीषण भी रावण के चरणों को हृदय से लगा सकते थे और तब वह श्रद्धा और प्रेम का प्रकटन होता। पर क्रिया विभीषण की ओर से न हो रावण की ओर से हो गयी, रावण स्वयं अपना चरण, प्रहार करने के उद्देश्य से, विभीषण की छाती पर रख देता है, इसलिए वह अधर्म, अन्याय हो गया।

प्रभु ने भरतजी से संकेत में कहा—भरत, तुम्हें मैंने पादुकाएँ दीं और तुमने सिर पर धारण कर लिया, यह कैसी बात है? पादुकाएँ तो पैर में पहनने के लिए होती हैं? तुमने मुझसे आधार माँगा था, इसीलिए मैंने पादुकाएँ दीं। यदि उन्हें पैर में पहनो, तब तो वे आधार हैं, पर यदि सिर पर रखो तो भार है। तो मैंने तो आधार के बदले तुम्हें भार ही दे दिया! इस पर भरत कहते हैं—नहीं प्रभो, आपने तो आधार ही दिया है। आपने यह जो

दिया है, वह मेरे लिए चौदह वर्ष तक राज्य चलाने के लिए सबसे बड़ा आधार है। भरत का सूक्ष्म संकेत यह है कि महाराज, पादुका आपके पद की है, किसी दूसरे का पद उसके लायक नहीं है। पादुका में तो मानो जीवन होता है। भले ही दो व्यक्तियों के पैर में एक ही नम्बर के जूते हों, पर हर व्यक्ति के पैर में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य होती है, इसलिए यदि कोई व्यक्ति दूसरे के जूते में पैर डाले, तो झट जूता बता देता है कि हम आपके पैर के नहीं हैं। 'दोहावली' में गोस्वामीजी लिखते हैं—

बिन आखिन की पानहीं पहिचानत लखि पाय। ४८२

—बिना आँखवाली जूती पैर को देखकर पहचान लेती है। यह पैर और जूते का सम्बन्ध है। अब उनकी बात और है, जो जूते की बात न सुनें और पहनकर चले जायँ! ऐसे लोग दूसरों के जूते ले जाने के आदी होते हैं। तो, भरत का संकेत यह है कि प्रभु, आपने पादुका देकर यह बता दिया कि अयोध्या का राज्यसिंहासन आपका है, और जैसे दूसरे की पादुका में अपना पैर नहीं डालना चाहिए, इसी प्रकार मेरे लिए भी यह कदापि उचित न होगा कि मैं आपकी पादुका में पैर डालूँ, अन्यथा मैं भी चोर की श्रेणी में ही खड़ा किया जाऊँगा। इसीलिए मैंने आपकी पादुकाओं को सिर पर रखा है। यह भरत का दर्शन है। वे यही मानते हैं कि पद एकमात्र ईश्वर का है और पादुकाएँ उन्हें प्रभु के पद का निरन्तर स्मरण दिलाती रहती हैं। इस प्रकार श्री भरत अपने चरित्र और दर्शन के माध्यम से रामराज्य की भूमिका निर्मित

करते हैं।

दूसरी ओर रावण है, जो युद्ध में विजय तो चाहता है, पर उसे पराजय ही हाथ लगती है, क्योंकि उसके व्यवहार में अन्याय और अधर्म है। जब एक पुत्र या अनुज अपने पिता या अग्रज के चरणों का स्पर्श करता है, तब पुत्र या अनुज के अन्तःकरण में अपने पिता या अग्रज के लिए श्रद्धा होती है। उसी प्रकार जब पिता या अग्रज अपने पुत्र या अनुज को चरण छूने देता है, हृदय से लगाने देता है, तब उसके अन्तःकरण में वात्सल्य उमड़ता है। अतः चरण और हृदय का मिलन मानो श्रद्धा और वात्सल्य का मिलन है। पर रावण और विभीषण के लिए चरण और हृदय का ऐसा मिलन अपमान और पीड़ा की ही सृष्टि करता है और अन्ततः विभीषण को रावण से पृथक् कर देता है। वास्तव में रावण लड़ाई तभी हार जाता है, जब वह विभीषण का इस प्रकार तिरस्कार कर देता है।

इस प्रकार ये दो दर्शन हमारे सामने आते हैं—एक है भगवान् राम का दर्शन और दूसरा है रावण का दर्शन। अब यह हम पर है कि अपने व्यवहार में हम किस दर्शन का चुनाव करते हैं। यदि हम अपने जीवन में धन्यता लाना चाहते हैं, तो हमें भी रावण को छोड़ राम की ओर उन्मुख होना होगा, जैसा कि विभीषणजी करते हैं। वे जीव का प्रतिनिधित्व करते हैं और विभीषण-शरणागति वस्तुतः जीव का ईश्वर के प्रति समर्पण ही है। जब तक विभीषण श्री राम से नहीं मिलते यानी जब तक जीव ईश्वर को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक उसके जीवन

में समग्रता और पूर्णता नहीं आ पाती। जीव की पूर्णता ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाने में है। यही उसके जीवन का परम लक्ष्य, परम साध्य है। (क्रमश:)

●

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य

पढ़िए और उपहार में दीजिए

(१) 'श्रीरामकृष्णलीला प्रसंग' (स्वामी सारदानन्द कृत श्रीरामकृष्णदेव की तीन खण्डों में विस्तृत जीवनी) : प्रथम खण्ड—१६), द्वितीय खण्ड—२२), तृतीय खण्ड—१७)।

(२) 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' (श्रीरामकृष्ण के अमृत-मय उपदेशों का अपूर्व संग्रह) : प्रथम भाग—२०॥); द्वितीय भाग—२१), तृतीय भाग—२४)।

(३) 'श्रीरामकृष्णलीलामृत' (जीवनी) : प्रथम भाग—८॥), द्वितीय भाग—८॥)।

(४) 'माँ सारदा' (श्रीरामकृष्ण की लीला सहधर्मिणी की विस्तृत जीवनी) : मूल्य—१७)।

(५) 'विवेकानन्द चरित' (सुविस्तृत प्रामाणिक जीवनी) : १५)

(६) 'विवेकानन्द चरित' (१० खण्डो में सम्पूर्ण सेट) : एक का १६), सम्पूर्ण सेट—१५०)।

प्राप्ति स्थल—विवेक-ज्योति कार्यालय- विवेकानन्द आश्रम, रायपुर।

रसद्दार मथुर (२)

मूल बँगला लेखक—**नित्यरंजन चटर्जी**, कलकत्ता

अनुवादक—**श्याम सुन्दर चटर्जी**, कवर्धा

(गतांक से आगे)

स्थापत्य की छटा से पूर्ण दक्षिणेश्वर का मन्दिर बनकर खड़ा हुआ। दूर दूर से प्रसन्नचित्त लोग आये। अवाक् होकर मन्दिर को देखा। विस्मित होकर लौट गये। निर्जन प्रान्तर जनसमागम से पूर्ण हो उठा।

नवरत्नमण्डित मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी जगदीश्वरी कालीमाता हैं। गर्भमन्दिर में सहस्रदल पद्म पर शवरूप में शायित महाकाल के प्रतीक निर्गुण चैतन्यमय शंकर महायोग में निमग्न हैं। उनके विशाल वक्ष पर सृजन, पालन एवं प्रलयकारिणी जगदीश्वरी कालीमाता दण्डायमान हैं। अंग पर लाल बनारसी, मस्तक पर मुकुट, गले में सोने की मुण्डमाला है। देवी का सर्वांग सोने के अलंकारों से परिपूर्ण है। केशराशि खोपे में बँधी है और कटितट खण्डित नरहस्त से आवृत है।

माँ चतुर्भुजी हैं। दो वाम करों में नरमुण्ड एवं खड्ग तथा दक्षिण करों में वर और अभय की मुद्राएँ हैं। विश्व प्रसविनी जगन्माता निखिल विश्व को आशीष एवं अभय दान दे रही हैं। देवी का सर्वांग रुधिर से लिप्त है। वे क्षण में नृत्य-चंचला हैं तो क्षण में ही प्रशान्त-गम्भीरा।

सृजन, पालन एवं प्रलयकारिणी माँ चिर नूतन हैं। साथ ही चिर पुरातन।

झामापुकुर पाठशाला के पण्डित रामकुमार चट्टोपाध्याय माँ के मन्दिर में पुजारी होकर आये। उनके साथ लघु भ्राता गदाधर भी हैं। इच्छा है मन्दिर के काम में भाई को लगा देंगे। सांसारिक कष्ट कुछ कम होगा। किन्तु भाई की तो मनःस्थिति कुछ और ही दीखती है।

"क्यों रे, काम करेगा यहाँ ? तेरी नौकरी होने से घर का अभाव भी कुछ कम होगा। मेरी भी कुछ सहायता होगी। देखूँगा सेजो बाबू से कहकर।" —रामकुमार ने कहा।

"नौकरी ! दासत्व ! ईश्वर का दास हूँ मैं—फिर और किसका दास होऊँगा ? नहीं, नहीं; यह सब मेरे द्वारा नहीं होगा। इस दासत्व से तो मेरी सत्ता ही समाप्त हो जायगी। मुझे ऐसा करने को न कहिए। ईश्वर को छोड़ और किसी के पास अपने को नहीं बेच सकता।" —झुँझलाकर गदाधर कह उठे।

रामकुमार ने बहुत समझाया। किन्तु कुछ भी नहीं हुआ। अपने इस हठी भाई को वे अच्छी तरह गे जानते हैं।

गदाधर अपनी ही धुन में गंगातट पर घूमते रहते हैं। कभी गाते हैं, तो कभी माँ-माँ की पुकार मे समस्त प्रान्तर को मुखरित कर देते हैं। रामकुमार को सीधा के रूप में जो प्राप्त होता है, उनके पास भेज देते हैं। गदाधर गंगा के किनारे स्वपाक-आहार करते हैं। गंगामृत्तिका

लेकर महादेव की मूर्ति बनाते रहते हैं।

गदाधर गंगामृत्तिका लेकर तन्मय हो शिवमूर्ति बना रहे हैं। मूर्ति के सारे अंगों में धीरे धीरे कलाकृति निखर उठती है। मथुरामोहन पीछे खड़े हो अपलक देख रहे हैं। अनायास ही प्रशंसा का स्वर उनके मुख से निकल पड़ता है—"चमत्कार !"

टूट गयी गदाधर की तन्मयता।

"मुझे दोगे यह मूर्ति ?" मथुरामोहन ने प्रश्न किया।

नहीं देने का क्या है। सैकड़ों ऐसी मूर्तियाँ गदाधर इसी मुहूर्त बना सकते हैं। मूर्ति को रख दिया मथुरा-मोहन के हाथों पर।

रामकुमार एक दिन गदाधर के साथ बात कर रहे थे। उसी समय वहाँ मथुरामोहन भी उपस्थित हो गये। उनकी दृष्टि गदाधर पर है। मानो कितने पुराने परिचित, कितने आत्मीय हों।

"कौन है यह बालक ?" —मथुरामोहन ने प्रश्न किया।

"मेरा छोटा भाई।" —रामकुमार ने कहा।

"वह तो हुआ। किन्तु मेरे भीतर ऐसी छटपटाहट क्यों ? तीव्र आकर्षण का अनुभव क्यों कर रहा हूँ ?"

क्षुब्ध हो उठा मथुरामोहन का मन।

"मेरी एक बात मानोगे ? काम करोगे इस मन्दिर में ?" गदाधर को वे नौकरी के बन्धन से बाँधना चाहते हैं।

सेजो बाबू के प्रश्न का क्या उत्तर दें गदाधर समझ नहीं पा रहे हैं। एक बार अपने अग्रज की ओर ताकते हैं, एक बार अपने भानजे हृदय की ओर। हृदय ने उन्हें अभय दिया।

"भय किस बात का, मैं तो हूँ। तुम्हारे साथ छाया के समान रहूँगा। तुम्हारी देह की रक्षा सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ करूँगा।"

गदाधर आशान्वित हुए। माँ की वेशकारी का कार्य स्वीकार करने में अब थोड़ी भी आपत्ति नहीं रह गयी।

मथुरामोहन अपनी सफलता से प्रसन्न हो उठे। रामकुमार के मन का बहुत बड़ा बोझ हल्का हो गया। हृदय को तो मानो चाँद ही मिल गया। इसी बहाने उसे भी कोई कार्य मिल जायगा। इसी आशा से तो वह इतनी दूर से, वर्धमान पार कर, दक्षिणेश्वर आया था।

विष्णुमन्दिर के पुजारी क्षेत्रनाथ चट्टोपाध्याय के हाथ से गोविन्दजी गिर गये हैं। विग्रह की अंगहानि हुई है। मथुरामोहन द्वारा पण्डितों की सभा बुलायी गयी। विधान चाहिए। पण्डितों ने शास्त्रानुसार विधान दिया—"विग्रह को गंगा में विसर्जित कर नयी मूर्ति प्रतिष्ठित करनी है। शास्त्रवाक्य का उल्लंघन करने पर चरम विपर्यय घट सकता है।"

रासमणि व्यथित हुई। प्राणों से प्यारे गोविन्दजी को वे कैसे विसर्जित करेंगी ? उनका सारा मन-प्राण हाहाकार कर उठा।

"छोटे पुजारी से भी क्यों न एक बार पूछ लिया

जाय ?" —मथुरामोहन ने सुझाव दिया।

"सच तो है। अभी तक उनका स्मरण ही नहीं हुआ।"

मथुरामोहन को अनुज्ञा प्राप्त करने में थोड़ी भी देर नहीं हुई।

"यही बुद्धि है तुम लोगों की ? ऐसी ही भक्ति से विश्वनियन्ता की पूजा करते हो ? देवता क्या तुम लोगों के लिए केवल पाषाण-काया हैं ? अरे वे तो अपने से भी अपने हैं। आत्मा के परम आत्मीय हैं। प्रियजन का पैर टूट जाने पर क्या उसे पानी में बहाकर किसी नये को पकड़ लाते हैं या कि पैर को जोड़कर उसे स्वस्थ कर लेते हैं ? तुम लोगों के लिए पोथी-पतरों की सूखी बातें ही सत्य हो गयीं ? मन की बातों का कोई मूल्य नहीं है ? अरे, अन्तर की बात ही तो ईश्वर की बात है। उनकी प्रेरणा न प्राप्त होने पर विवेक बतलाएगा कैसे ?"

मथुरामोहन का जो संशय था, वह दूर हो गया। रासमणि का मन परम शान्ति से भर उठा।

वैद्य का काम गदाधर को ही करना पड़ा। अत्यन्त सटीक और सुन्दर ढंग से विग्रह का अंग उन्होंने जोड़ दिया।

गदाधर राधागोविन्द-मन्दिर के पुजारी हुए। विश्व-संसार विस्मृत हुआ। जगत्-प्रपंच को भूलकर वे रूपसागर के अतल तल में डूब गये। उनका मन असीम में खो गया।

एक दिन विष्णुमन्दिर के अलंकार चोरी चले गये।

चारों ओर दौड़-धूप होने लगी। कहीं अलंकारों का पता नहीं चला। मथुरामोहन स्वयं आये। सामने गदाधर को दण्डायमान देखा।

"छिः छिः, भगवान् ! अपने सामान्य अलंकार की भी तुम रक्षा नहीं कर सके ?"

गदाधर तो अवाक् रह गये। कहता क्या है यह ? स्वयं का देह-बोध नहीं है जिसको, उसे ऐश्वर्य की रक्षा करने को कहना !

"बलिहारी हो तुम्हारी बुद्धि की, सेजोबाबू ! अनन्त ऐश्वर्य का भण्डार जिनके हाथ में है, जिनकी घरणी नारायणी हैं, उनको क्या ऐश्वर्य का कोई अभाव है ? उन्हें क्या तुमने ऐश्वर्य दिया है ? और उसको लेकर गर्व कर रहे हो ? तुम्हारे लिए वह भले ही बहुमूल्य हो सकता है, किन्तु उनके लिए तो वह मिट्टी के ढेले से अधिक कुछ नहीं।"

मथुरामोहन मूक हो गये। किसको सुनाने आये थे ऐश्वय की बातें ?

रामकुमार वृद्ध हो गये हैं। देह में अब वह सामर्थ्य नहीं रह गयी है। मन-प्राण विश्राम चाहता है। गदाधर को अपने आसन पर प्रतिष्ठित करने के लिए सेजोबाबू से अनुमति माँगी। मथुरामोहन रासमणि की अनुमति लेकर सहमत हुए। किन्तु माँ के मन्दिर का पुजारी होने के लिए गदाधर को दीक्षा की आवश्यकता होगी।

गदाधर शक्तिमंत्र मे दीक्षित हुए। केनाराम भट्टा-

चार्य गुरु हुए। दीक्षा देकर केनाराम तो आश्चर्यचकित हो गये। ऐसा अद्भुत काण्ड कभी नहीं देखा। कर्ण में मंत्र पड़ते ही गदाधर भावसमाधि में डूब गये। अपने मंत्र के आश्चर्यजनक प्रभाव से केनाराम विस्मित हो गये।

माँ के मन्दिर का काम करना है। गदाधर के मन में शका उत्पन्न हुई। यह कार्य किस तरह सम्पन्न होगा? मुझे तो शास्त्र का कुछ भी ज्ञान नहीं है। पूजा का विधि-विधान, तंत्र-मंत्र आदि कुछ भी मुझे ज्ञात नहीं है।

मथुरामोहन ने अभय दिया।

"क्या होगा निरे मंत्र के उच्चारण से? जहाँ आत्म-निवेदन नहीं, वहाँ मंत्रपाठ का क्या मूल्य है? तुम्हारे हृदय में शुद्धाभक्ति है, व्याकुलता है। तुम्हारा अन्तर्मन शुभ्र है। माँ को हृदय से पुकारो, भक्ति का अर्घ्य महा-माया के चरणों में निवेदन करो। तुम्हारी अंजलि माँ निश्चय ही ग्रहण करेंगी।"

मानो गदाधर को खोया हुआ मनोबल पुनः प्राप्त हो गया। उन्होंने कालीमन्दिर में पूजा का भार शान्त चित्त से ग्रहण कर लिया। कठोर साधना प्रारम्भ हुई। गदाधर माँ-माँ कहकर आकुल क्रन्दन करते हैं। आँसुओं से वक्ष भीग जाता है। भक्त के आकुल क्रन्दन से स्तब्ध प्रान्तर मानो जाग उठा है। समीरन के वक्ष पर क्रन्दन का स्वर प्रवाहित हो चला। "दर्शन दे, माँ! दर्शन दे! धन, जन, विषय, वैभव कुछ भी नहीं चाहिए, माँ! तेरे सिवा कुछ भी नहीं चाहिए। दर्शन दे, माँ! दर्शन दे!"

"सारी रात तुम कहाँ रहते हो? तुम्हें क्या भूत-प्रेत,

साँप आदि का कोई भय नहीं है ? किसी दिन व्यर्थ में ही प्राण चले जायँगे।" —हृदय ने कहा।

"पचवटी में माँ का ध्यान करता हूँ।"—शान्त कण्ठ से गदाधर ने उत्तर दिया।

एक दिन हृदय गहन रात्रि में गदाधर के पीछे हो लिये। यह क्या ! निर्वस्त्र होकर यज्ञसूत्र तक फेंक दिया है। थोड़ा सा भी होश नहीं है। निश्चल। महाकाल के समान ध्यानमग्न हैं।

हृदय चिन्तित हुए। मामा को क्या उन्माद हो गया है ?

"मामा, तुम क्या पागल हो गये हो ? ध्यान करना है तो ध्यान करो। यज्ञसूत्र, कपड़ा फेंकना, यह सब क्या पागलपन है ? तुम्हें क्या शर्म नहीं है ?" —हृदय शिकायत करते हैं।

"पागलपन ! कहता क्या है रे, हृदे। माँ का पुकारना हो तो अष्टपाश का बन्धन ढीला करना पड़ेगा। लज्जा, घृणा, भय, कुल, मान, शील, जाति इनमें से एक के भी रहते वे प्राप्त नहीं होती। श्रीकृष्ण ने गोपियों का वस्त्र-हरण किया था। जानता है, क्यों ? वे सभी बन्धनों से मुक्त थीं, केवल लज्जा का त्याग नहीं कर पायी थीं। उनकी कृपा से वह बन्धन भी दूर हो गया ! यज्ञसूत्र, कपड़ा ये सब तो अभिमान के प्रतीक हैं। यह अहंकार न तजने पर वे मिलेंगी कैसे ?"

हृदय चुप हो गये। उनके पास कहने का कुछ भी न रहा।

गदाधर के क्रन्दन का विराम नहीं है। भावावेग में कभी पृथ्वी पर मुँह रगड़ते रहते हैं। ओष्ठ कट जाते हैं। रक्त की धारा बह चलती है। किन्तु क्रन्दन का अन्त नहीं। विराम नहीं, माँ-माँ की पुकार में। पथिक चलते हुए रुक जाते हैं। सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहते हैं—अहा, बेचारे को शूलवेदना उठी होगी। गदाधर के इस आकुल क्रन्दन को सुनकर गंगास्नान करने आये यात्री भी पीड़ा का अनुभव करते हैं। कहते हैं—अहा, बेचारे की माँ शायद मर गयी है !

पूजा में बैठने पर सब नियम उलट जाते हैं। व्याकुलता के कारण मंत्र ही नहीं बोल पाते। आवेग के कारण भावसमाधि हो जाती है। निश्चल, चेतनाशून्य, निर्वात-निष्कम्प प्रदीपशिखा की भाँति समाधिस्थ हो जाते हैं। कभी घण्टी लेकर पूजा प्रारम्भ होती है तो घण्टी-वादन में ही समाप्त हो जाती है। कभी दीप लेकर आरती हो रही है, तो हो ही रही है। दीप से प्रारम्भ और दीप में ही समाप्ति ! फिर कभी नैवेद्य माँ की ओर बढ़ाकर कहते हैं—"खा, माँ ! खा ! अच्छा, अभिमान हुआ है ? ठीक, ठीक, मैं पहले खाता हूँ !" और नैवेद्य अपने मुँह में डाल लेते हैं। उच्छिष्ट नैवेद्य लेकर माँ को पुनः निवेदन करते हैं।

"मैंने तो खा लिया। अब तू भी खा।" कुछ क्षणों के लिए शान्त रहते हैं। फिर छोटे बालक की भाँति करताली देते हुए बोल उठते हैं—"हुआ तो ! अब तो तुझे खाना पड़ा ! मेरी पगली माँ ! सन्तान को भूखा रखकर कौर

अपने मुँह में कैसे डालेगी ?"

कभी तो भावविभोर हो गायन ही करते रहते हैं। पूजा का आयोजन वैसे ही पड़ा रह जाता है। गायन की धुन में कभी अपनी सत्ता ही खो बैठते हैं। माँ गाना सुनना चाहती है न! कभी तो हाथ-पैर समेटकर छोटे बालक की भाँति ऐसे सो जाते हैं, मानो स्नेहमयी जननी की गोद में ही सोयें हैं।

गदाधर के इस पागलपन को मन्दिर के कर्मचारी और अधिक सहन नहीं कर सके। उन्हें ऐसा लगा माना सब रसातल में चला गया। सब चिन्तित हो उठे। सेजोबाबू कहाँ से एक पागल को पकड़कर ले आये हैं! न शास्त्रनीति मालूम, न ही पूजा का विधि-विधान।

मथुरामोहन के पास यह बात अतिरंजित होकर पहुँची। वे छिपकर गदाधर की पूजा-पद्धति देखने आये।

"मैं यह क्या देख रहा हूँ? माँ को इस तरह पुकारना! मैंने तो कभी नहीं सुना। ऐसा हृदयविगलित क्रन्दन! भगवान् के लिए कोई इस तरह रो सकता है? क्या जादू है इस पुकार में!"

मथुरामोहन का अन्तर्मन मानो विगलित हो गया। उनके मन-प्राण शीतल हो गये। एक अनिर्वचनीय आनन्द ले वे लौट गये।

किन्तु कर्मचारियों के आनन्द की सीमा न रही। 'अब छोटे पुजारी का पागलपन दूर हो जायगा। ढोंग करके पूजा करना निकल जायगा। सेजोबाबू स्वयं अपनी

आँखों से सब देखकर गये हैं। अब शायद ही यह यहाँ रह पाये।'

दक्षिणेश्वर में दो दिन पश्चात् आदेश प्राप्त हुआ—'छोटे पुजारी जिस तरह से पूजा कर रहे हैं, उसी तरह से पूजा करेंगे। कोई भी उनके कार्य में बाधा न पहुँचाए।'

जो चाहते थे कि छोटे पुजारी को कुछ दण्ड मिले, उन सबका मुँह छोटा हो गया। —'बड़े आदमियों के आचार-विचार समझना ही कठिन है!' वे लोग फिर से कुछ करने की ताक में लग गये।

हृदय गदाधर की पूजा को विस्मय से देखते रहते हैं। वे विह्वल हो जाते हैं। सोचते हैं—इस तरह की पूजा तो जीवन में कभी भी नहीं देखी।

"मामा, तुम जब मन्दिर में रहते हो, तो वहाँ प्रवेश करने में मेरा शरीर क्यों रोमांचित हो उठता है?" —हृदय ने प्रश्न किया।

गदाधर हँसते हैं। निर्लिप्त भाव से माँ की ओर देखते रहते हैं। हृदय को कोई उत्तर नहीं मिलता। वे सोचते हैं, मामा की पूजा करने की रीति-नीति ही विचित्र है। तो क्या आखिर मामा के मस्तिष्क में सचमुच कुछ गोलमाल हो गया?

हृदय को इस पुरुष के सम्बन्ध में सोचकर कोई ओर-छोर ही नहीं मिल पाता।

(क्रमशः)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर एम. ए.
(दो।४८, डाक-तार नगर, भोपाल)

(१) श्रद्धामयोऽयं पुरुषः

राजपथ से जा रहे गौतम बुद्ध ने रास्ते में देखा कि एक जलाशय के समीप एक भिक्षुक स्नान के पश्चात् छहों दिशाओं की ओर हाथ जोड़े जाप कर रहा है। बुद्धदेव ने उससे पूछा, "महाशय ! आपने अभी अभी छहों दिशाओं को प्रणाम किया। क्या आप मुझे बता सकेंगे कि इसका क्या अभिप्राय है ?"

"यह तो मुझे नहीं मालूम।"—उस व्यक्ति ने उत्तर दिया।

"जब मूल उद्देश्य जानते नहीं, तो पूजा-पाठ और जाप का क्या महत्त्व है ?"

तब वह व्यक्ति बोला, "भन्ते ! आप ही बता दीजिए कि छहों दिशाओं को प्रणाम करने का क्या प्रयोजन है ?"

तथागत बोले, "माता-पिता और गृहपति ये पूर्व दिशा हैं, आचार्य दक्षिण दिशा, स्त्री तथा पुत्र-पुत्रियाँ पश्चिम और मित्रादि उत्तर दिशा। रही ऊर्ध्व और अधो-दिशा, तो ऊर्ध्व दिशा श्रमण-ब्राह्मण है तथा सेवक अधो-दिशा हैं। इन छहों दिशाओं को किया गया प्रणाम उक्त सभी व्यक्तियों को प्रणाम करने के समान होता है।"

"यह तो ठीक है, भन्ते ! मगर सेवक को प्रणाम

करने का क्या प्रयोजन है ? सेवकों से हम उच्च होने के कारण वे ही तो हमें प्रणाम करते हैं।"

बुद्धदेव ने कहा, "सेवक भी पुरुष हैं और हम भी पुरुष हैं। जब वे हमारी सेवा करते हैं, तो हमारा भी कर्तव्य हो जाता है कि हम उनकी सेवा के बदले उनके प्रति स्नेह-वात्सल्य प्रकट करें। सेवकों को प्रणाम करते समय हम उनके प्रति स्नेह-भाव व्यक्त कर रहे होते हैं। उन्हें तुच्छ भाव से नहीं देखना चाहिए।"

इस उत्तर से वह व्यक्ति सन्तुष्ट हो गया और उसने श्रद्धावनत हो कहा, "आज आपने मुझे सही दिशा-ज्ञान करा दिया !"

(२) सरल सुभाव न मन कुटिलाई

एक बार सन्त एकनाथ गोदावरी में स्नान कर रहे थे कि उन्हें सामने पानी में एक बिच्छू बहता दिखायी दिया। उन्होंने आगे बढ़कर उसे पकड़ लिया, किन्तु जैसा कि बिच्छुओं का स्वभाव है, बिच्छू ने उनकी हथेली पर डंक मारा। एकनाथजी ने उस ओर ध्यान न देकर बिच्छू को किनारे पर रख दिया और पुनः स्नान करने लगे। अकस्मात् लहरों का झोंका आया और उसने किनारे के बिच्छू को अपनी चपेट में ले लिया। एकनाथजी ने बिच्छू को दुबारा बहते देखा, तो फिर से उसकी रक्षा की और उसे किनारे पर रख दिया। बिच्छू ने इस बार भी डंक मारा। सन्त चुपचाप हथेली को मलने लगे। लहर किनारे पर फिर आयी और बिच्छू को बहा ले गयी। सन्त ने इस बार भी उसकी रक्षा की औरउसके डंक का वार सहा।

समीप ही एक व्यक्ति नहा रहा था। उसने यह सब देखा, तो एकनाथजी से पूछा, "महाराज! यह बिच्छू आपको बार बार डंक मार रहा है और आप बार बार उसकी रक्षा कर रहे हैं। क्या ऐसे दु:खदायी जीव पर दया दिखाना उचित है?" एकनाथ स्वामी ने जवाब दिया, "इसमें अनुचित क्या है? मैं अपने स्वभाव का धर्म उसके साथ बरत रहा हूँ और वह अपने स्वभाव-धर्म का पालन कर रहा है। फिर हमें अपने स्वभाव-धर्म से क्यों विमुख होना चाहिए?"

(३) गुरू कहे सो कीजिए

सिक्ख गुरु अमरदासजी बूढ़े हो चले थे, उनकी उम्र भी १०५ वर्ष के लगभग हो गयी थी। तब उनके शिष्य सोचा करते, "मैंने गुरु की काफी सेवा की है, इसलिए यदि गद्दी मुझे सौंप दी जाए, तो कितना अच्छा होगा!"

एक दिन गुरु साहिब ने शिष्यों को बुलाकर कहा, "तुम लोग अलग अलग अच्छे चबूतरे बनाओ।" शिष्यों ने जब चबूतरे बनाये, तो उन्होंने उनका निरीक्षण किया और कहा, "इनमें से एक भी अच्छा नहीं है। इन्हें तोड़ो और दूसरा बनाओ।" शिष्यों ने उन चबूतरों को तोड़ा और फिर से बनाना शुरू किया, किन्तु गुरु साहिब को उनमें से एक भी पसन्द न आया और उन्होंने फिर बनाने को कहा। ऐसा कई बार हुआ। शिष्य चबूतरे बनाते और गुरु साहिब उन्हें तोड़ने को कहते।

आखिर शिष्य निराश हो गये और उन्होंने सोचा, "गुरु बूढ़े हो गये हैं, इसलिए उनकी अक्ल ठिकाने नहीं

है।" वे सब उठकर जाने लगे, किन्तु शिष्य रामदास अभी भी चबूतरा बनाने में जुटा हुआ था। उन लोगों ने उससे कहा, "इस पागल का हुक्म मानकर तुम भी पागल क्यों बन रहे हो ? चलो छोड़ दो चबूतरा बनाना।" रामदास ने जवाब दिया, "अगर गुरु पागल है, तो किसी का भी दिमाग दुरुस्त नहीं रह सकता—किसी की अक्ल ठीक नहीं रह सकती। हमें तो यही सीख मिली है कि गुरु ईश्वर का ही दूसरा रूप है और उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। अगर गुरु सारी जिन्दगी भर चबूतरा बनाने का आदेश दे, तो रामदास जिन्दगी भर चबूतरा बनाता रहेगा।" और वह चबूतरा बनाने में मग्न हो गया।

कहा जाता है कि रामदास ने लगभग सत्तर चबूतरे बनाये और अमरदासजी ने उन सबको तुड़वाकर फिर से बनाने का आदेश दिया। गुरु ने उसकी लगन और भक्ति देख उसे छाती से लगाकर कहा, "तू ही सच्चा शिष्य है और तू ही गद्दी का अधिकारी होने के काबिल है।"

(४) अचल अकिंचन सुचि सुखधामा

एक बार हातिमताई से उनके एक मित्र ने प्रश्न किया, "मैं तो आपको ही महान् व्यक्ति समझता हूँ, मगर क्या आपको भी कभी कोई महान् व्यक्ति दिखायी दिया है ?"

"हाँ," हातिमताई ने कहा, "एक बार मैंने सारे नगरवासियों को भोज का आमंत्रण दिया था। सभी नगरवासी भोज में शामिल हुए। नगर का कोई व्यक्ति

बाकी तो नहीं रहा, इस इरादे से जब मैंने शहर का चक्कर लगाया, तो रास्ते में मुझे एक लकड़हारा एक पेड़ काटता दिखायी दिया। मैंने उससे पूछा, "हातिम ने आज सबको भोज का न्योता दिया है। क्या तू वहाँ हो आया है?" उसने जवाब दिया, "नहीं, मैं तो मेहनत की रोटी खाता हूँ। दूसरों की भलाई का बोझ ढोना मैं पसन्द नहीं करता।"

इतना कह हातिमताई ने मित्र से कहा, "मित्र! मैं तो उस लकड़हारे को सबसे बड़ा मानता हूँ। दान देकर खुद को बड़ा समझने की बजाय मेहनत की कमाई खाने वाला ही वास्तव में बड़ा होता है।"

(५) गुनन पराये देखकर

एक बार सन्त शिबली सन्त अबू हफस हदाद के पास सत्संग के लिए गये। उनका भक्ति-भाव देख लोग दंग रह गये और उन्होंने उनकी अनुपम शक्ति की भूरि भूरि प्रशंसा की।

इस पर अबू हफस बोले, "तुम सब भ्रम में हो, वास्तव में यह बड़ा ढोंगी है। इसके समान कुकर्मी और भगवत्-द्रोही संसार में दूसरा कोई नहीं है। मैं नहीं चाहता कि यह सत्संग में आए। आप लोग अब इसे सत्संग में न आने दें।" शिबली यह चुपचाप सुन रहे थे। जब उन्होंने महसूस किया कि सन्त को उनका आना पसन्द नहीं है, तो वे वहाँ से निकल गये।

उनके जाने के बाद अबू हफस उपस्थित लोगों से बोले, "ध्यान रखो, किसी की तारीफ उसके मुँह पर नहीं

करनी चाहिए। शिबली बेचारा भोला है, मगर वह सच्चा भक्त है, लेकिन तुम लोग उसकी प्रशंसा कर उसका नाश कर रहे थे। तुम्हारी तारीफ़ उसके हक़ में तलवार थी और उसे तुम लोग खींच रहे थे। अगर उस पर इसका जरा भी असर हो जाए, तो वह अहंकारी और घमण्डी होकर उसका पतन हो सकता है। उसकी रक्षा के लिए मुझे उसकी निन्दा और निरादर की ढाल का काम लेना पड़ा, जिससे उसका खून न होने पाए।"

●

एक बार भीड़ में से चलते हुए एक साधु का पैर एक दुष्ट आदमी को लग गया। इस पर उस आदमी ने मारे क्रोध के आग-बबूला हो उस साडु को इतनी बुरी तरह पीटा कि साधु बेहोश होकर गिर पड़ा। शिष्यों के काफी देर तक सेवा-शुश्रूषा करने के बाद जब उसमें कुछ होश में आया, तब एक शिष्य ने पूछा, "महाराज, बताइए तो भला कौन आपकी सेवा कर रहा है?" साधु ने कहा, जिसने मुझे मारा था!"

यथार्थ साधु को शत्रु और मित्र में भेद नही दिखायी देता।

—श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण-महिमा

अक्षयकुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंग-भाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ, जिसे हम 'विवेक-ज्योति' में इस अंक से धारावाहिक रूप से प्रकाशित करने जा रहे हैं, में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन बॉयेज होम, रहड़ा, पश्चिम बंगाल में कार्यरत हैं। —स०)

श्रीरामकृष्ण-लीला मधुर सुन शीतल हो जीवन।
पत्थर से झरे वारि मृत तरु में हो कम्पन॥

पाठक और प्रबोध ये दोनों थियेटर के अभिनेता हैं। ये गिरीश घोष को अपना गुरु मानते हैं। थियेटर में जिस दिन 'चैतन्यलीला' नाटक अभिनीत हुआ था, तब से इन्होंने थियेटर में भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के दर्शन किये हैं। इन्होंने उनकी चरणरज ली है और महाप्रसाद धारण किया है।

पाठक—देखो प्रबोध, मैंने सब प्रकार का नशा किया। जब एक नया नशा पकड़ता हूँ तो कुछ दिन बड़ा आनन्द रहता है, फिर नशे का जोर चला जाता है और

तब फिर से एक नये नशे की तलाश होती है। इस प्रकार सब तरह के नशे ही तो बेकार हुए। केवल गाँजा ही बाकी था, लगता है उसका असर भी खत्म होने में देर नहीं।

इसी प्रकार धूम्रपान और बातचीत चलती रही। बातचीत के दौरान परमहंस का प्रसंग आ पड़ा।

पाठक—देखो भाई, वे जो परमहंसदेव हैं न, जिन्हें गिरीशबाबू गुरु कहते हैं, बड़े अच्छे व्यक्ति हैं, अच्छे साधु हैं। अन्य साधु जैसे होते हैं—जटाधारी, गेरुआ पहने, शरीर में भभूत रमाये, इनमें ऐसा कुछ नहीं है। और एक बात तुमने देखी होगी, साधू में कोई अहंकार नहीं है। वे पहले ही लोगों को नमस्कार करते हैं। और उनका मुख भी कैसा !—लाल लाल से अधर, करारी आँखें, लावण्य-भरा चेहरा, फिर उसकी भी कैसी शोभा है ! दर्शन से ही मनुष्य का मन उनके पैरों पर लोटने को होता है। फिर उनकी बातें कैसी मीठी हैं। गले के सुर में भी कैसी मिठास है। ऐसा सुन्दर गाना तो, भाई, किसी का सुना नहीं। हमारे थियेटर में कितने अच्छे अच्छे गायक हैं और पहले भी थे। सभी के गाने तो सुने हैं, पर ऐसा कोई नहीं गा सका है। अब तो सभी परमहंसदेव की प्रशंसा करते हैं।

प्रबोध—परमहंसदेव में और एक गुण है, जानते हो? सुना है वे रानी रासमणि के दक्षिणेश्वर के मन्दिर के पुजारी थे। काली की पूजा करते करते माँ ने कृपा करके उन्हें दर्शन दिये थे। जब भी वे इच्छा करते हैं, पुकारने से ही माँ के दर्शन होते हैं, माँ के साथ बातचीत होती है।

उसी थियेटर में एक दिन अभिनेत्रियों को देखकर वे 'माँ आनन्दमयी ! माँ आनन्दमयी !' कहते हुए बेहोश हो गये थे, फिर कुछ देर बाद अस्पष्ट रूप से कुछ बोलने लगे थे।

पाठक—वह बेहोशी नहीं है, उसे समाधि कहते हैं। और जिसे तुमने अस्पष्ट भाषा में बोलना कहा, वह है माँ के साथ बातचीत। सुना है, वे सब जान जाते हैं, माँ उन्हें सब बोल देती हैं। वे लिखना-पढ़ना नहीं जानते, पर बड़े बड़े पण्डित उनसे हार जाते हैं।

प्रबोध—अच्छा जी, लिखना-पढ़ना जानते नहीं तो पण्डितों को हरा कैसे देते हैं।

पाठक—माँ के साथ जिनकी बातचीत होती है, वे क्या सामान्य व्यक्ति हैं ? उन्हें पण्डितों के साथ अधिक देर बोलना नहीं पड़ता। होता क्या है, सुनो—पण्डित लोग दूर से बड़े जोर-शोर के साथ आते हैं। पहले गुस्से में बहुत तर्क-वितर्क करते हैं। जब बातचीत बहुत बढ़ जाती है, तो ये परमहंसदेव उन्हें स्पर्श कर देते हैं—और बस, पण्डित लोग हक्के-बक्के रह जाते हैं।

प्रबोध—फिर ?

पाठक—फिर और क्या—उनका गरजना-लरजना तो दूर रहा, कोई हाथ जोड़कर स्तुति करता है, कोई पैरों पर लोटता है, तो कोई कहता है—'मुझे चैतन्य कर दो', तो कोई रोता है—यही सब !

प्रबोध—अच्छा भाई, ऐसा जो करते हैं, कुछ देखकर ही तो। उनके छूने से वे लोग क्या देखते हैं, कुछ सुना है ?

पाठक—हाँ सुना है—कोई शिव देखता है, कोई काली देखता है, कोई राम देखता है, तो कोई कृष्ण देखता है। फिर कोई ऐसा कुछ देखता है कि कुछ बोल नहीं पाता। कितने ही लोग इस व्यक्ति के वशीभूत हो गये हैं। यही देखो न, अपने गिरीशबाबू कैसे हो गये। गिरीशबाबू तो कोई सीधे आदमी हैं नहीं। वे किसी के सामने सिर नहीं झुकाते। मौसा, फूफा, मामा, आदि गुरुजनों को नमस्कार करना होगा, सोचकर सम्बन्धियों के घर नहीं जाते। एकदम नास्तिक हैं। शेर भी अगर उन्हें पकड़कर खाने आये, तब भी मुंह से भगवान् का नाम नहीं निकालेंगे। साधु-संन्यासियों को देखते ही उनका पारा चढ़ जाता है,—सोंटा सब समय तैयार रहता है। देवी-देवता की मूर्ति को कटारी से टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं। इन्हीं परमहंसदेव से उन्होंने थियेटर में कितनी गाली-गलौज की थी, वह तो सब जानते हो। उसके बाद परमहंसदेव ने अपना मन्त्र फूँककर उन्हें जो छू दिया कि बस, गिरीशबाबू वश में। अब गिरीशबाबू ही उन्हें भगवान् कहते हैं।

प्रबोध—अच्छा भाई, और किसी का ऐसा हुआ है, जानते हो ?

पाठक—हाँ, उस दिन की ही बात है, शशधर तर्क-चूड़ामणि ने अपने भाषणों से शहर को हिला दिया। जिसने भी उनकी वक्तृता सुनी है, वही प्रशंसा करता है। आज यहाँ भाषण तो कल वहाँ भाषण, एक धूम मच गयी है। इसके बाद इन परमहंसदेव ने उनके निवासस्थान पर जाकर उनसे भेंट की और उन्हें स्पर्श करके कुछ कहा।

प्रबोध—उसके बाद ?

पाठक—उसके बाद और क्या ? जैसे ही छुआ कि बस, उनकी बोलती बन्द ! फिर वे ही शशधर पण्डित कितने ही दिनों तक उनके पीछे पीछे घूमते रहे। पता नहीं उनमें क्या देखा। पर अब उनकी कोई आवाज सुनायी नहीं देती।

प्रबोध—और किसी की बात सुनी है ?

पाठक—अरे, बहुतों की—बाद में फिर कहूँगा।

प्रबोध—तुमने इतनी बातें कहाँ से सुनीं ?

पाठक—अरे भाई, आजकल जहाँ जाता हूँ, वहीं परमहंसदेव की चर्चा है।

प्रबोध—अब वे कहाँ हैं ?

पाठक—सुना है आजकल वे काशीपुर के एक उद्यानगृह में हैं। उनके गले में रोग हुआ है। इसीलिए उनके भक्तों ने उन्हें वहाँ रखकर उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। बड़ा कठिन रोग है। सुना है शहर के डाक्टर, वैद्य सभी हार मान बैठे हैं। डाक्टर महेन्द्र सरकार भी कुछ नहीं कर पाये हैं।

प्रबोध—तो चलो, हम भी उन परमहंसदेव के दर्शन कर आएँ। ऐसा भयंकर रोग हुआ है सुनकर हृदय जाने कैसा कैसा कर उठा है।

पाठक—भाई, मेरी भी वही दशा है। चलो चलें।

दोनों रास्ते पर निकल पड़े। दोपहर करीब करीब ढलने लगी थी। कुछ दूर जाने पर दोनों को भूख लग आयी।

प्रबोध—भाई, भूख के कारण तो अब चला नहीं

जाता। डेढ़ कोस से भी अधिक का रास्ता बाकी है। पर हम दोनों के पास एक धेला भी तो नहीं है। चलो जब निकल पड़े हैं, तो जैसे-तैसे हो आएँगे। तुमने कुछ पहले जो कहा कि परमहंसदेव ने और कइयों को छूकर गूँगा बना दिया है उसकी चर्चा करोगे, तो अभी कहो न। सचमुच, वे ठाकुर जैसे सुन्दर हैं, उनके बारे में बातें भी वैसी ही हैं।

पाठक—उस दिन मैं दत्तबाबू के नशे के अड्डे में गया था। वहाँ कई लोग परमहंसदेव के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। बातचीत सुनने में अच्छी लग रही थी। एक ने कहा—केशव सेन ने इतने शिष्य बनाये, विलायत में जाकर अपने भाषणों द्वारा बड़े बड़े साहबों को मोहित किया, यहाँ भारतवर्ष में भी कितने ब्राह्म-मन्दिरों की स्थापना की। उनकी वक्तृता में ऐसा जादू है कि सुनकर मनुष्य वशीभूत हो जाता है। तुम लोगों को याद है—बीडन गार्डन में जिस दिन उनका भाषण हुआ, इतने बड़े बगीचे में भीतर-बाहर पैर रखने को जगह नहीं थी, मानो शहर उमड़ पड़ा था। उसके बाद केशबबाबू की परमहंसदेव के साथ भेंट हुई।

प्रबोध—भेंट के बाद क्या हुआ ?

पाठक—उस व्यक्ति ने कहा कि कुछ दिनों तक परमहंसदेव का सत्संग करने से केशबबाबू की दिशा ही बदल गयी। वे केशव मानो बदलकर एक दूसरे केशव हो गये। अपने शिष्यों को साथ लेकर वे दक्षिणेश्वर आना-जाना करने लगे। कभी कभी परमहंसदेव को अपने घर भी ले जाते। इस प्रकार होते होते केशव सेन के

भाषण का वह जोर न जाने कहाँ हवा हो गया। वे परमहंसदेव के चरण-तले बैठकर सिर झुकाये वे क्या कहते हैं वह सब सुनते। एक दिन परमहंसदेव ने केशवबाबू से कहा, 'केशव, तुम कैसा भाषण देते हो, जरा बोलो न ?' इस पर केशवबाबू ने जवाब दिया, 'महाशय, लुहार के घर क्या सुई बेचनी होगी ?'

प्रबोध—कैसे आश्चर्य की बात है ! काली के एक पुजारी ब्राह्मण के पास, जो जरा भी लिखना-पढ़ना नहीं जानते, केशव सेन जैसे इतने बड़े आदमी ऐसे हो गये ! यहाँ शहर में तो हजारों पुजारी ब्राह्मण हैं, भट्टाचार्य हैं, संस्कृत पाठशाला के अध्यापक लोग हैं, जो संस्कृत भाषा घोंट-घोंटकर दिनरात एक कर देते हैं। पर कहाँ, इनके समान तो कोई नहीं है; और अन्यत्र कहीं है ऐसा भी सुनने में नहीं आया।

पाठक—कुछ देर पहले तो तुमने खुद ही कहा कि तुमसे किसी ने कहा था—परमहंसदेव काली के पुजारी थे। उनकी पूजा से प्रसन्न हो माँ ने उन्हें दर्शन दिये थे और अब पुकारने से ही माँ आती हैं और उनके साथ बातचीत करती है। माँ काली के साथ जिनकी बातचीत हो, उनके साथ क्या और किसी की तुलना हो सकती है ? वे तो ईश्वरीय व्यक्ति हैं।

प्रबोध—अच्छा, परमहंसदेव ने तो माँ-काली की पूजा करते करते माँ-काली के दर्शन पाये। पर इस शहर में तो कितनी ही काली मूर्तियाँ हैं, सभी जगहों पर पुजारी ब्राह्मण हैं, जो माँ को सुन्दर ढंग से सजाते हैं, सुन्दर भोग

देते हैं, किन्तु वे लोग इनके जैसे न हो दूसरे प्रकार के क्यों हो जाते हैं, बोलो तो ? कालीघाट भी तो एक पीठस्थान है—माँ जाग्रता हैं, वहाँ की भी तो खबर मुझे मालूम है।

पाठक—जो जैसा चाहता है, वह वही पाता है। परमहंसदेव माँ की पूजा करने के लिए पुजारी हुए थे, माँ के दर्शन पाने की आशा से पुजारी हुए थे, माँ के साथ बातचीत करने के लिए पुजारी हुए थे, इसीलिए माँ-काली ने उनकी पूजा ग्रहण की, उन्हें दर्शन दिया, उनके साथ बातचीत की और अब पुकारने से ही आकर बातचीत करती हैं। और इन लोगों के बाहर से भक्ति दिखाने से क्या होगा, ये लोग तो पुजारी नहीं—पूजा के अरि हैं ! इसीलिए माँ भी तदनुसार पूजा ग्रहण करती हैं। ये लोग माँ के चरण कहाँ चाहते हैं ? माँ के साथ वातचीत के बदले जो चाहते हैं—चावल, केले की चढ़ौतरी, वही सब प्राप्त करते हैं। और जो लोग पूजा कराने आते हैं, उनके साथ बातचीत (दक्षिणा पाने के लिए) करके इन लोगों का पूजाकाण्ड खत्म हो जाता है।

प्रबोध—तुमने, भाई, यह कैसे समझा ? हम दोनों तो इतने समय से एक साथ हैं, पर मैं तो कुछ समझ नहीं पाया।

पाठक—मैं भी कुछ नहीं जानता था, पर जिस दिन थियेटर में परमहंसदेव अपने दाहिने पैर को बढ़ाकर समाधिस्थ हुए थे और गिरीशबाबू ने चिल्लाकर कहा था, 'अरे, जो जहाँ भी हो चले आओ और जल्दी से चरणधूलि ले लो', तब मैंने जल्दी से जाकर उनकी चरणरज ले ली

थी और कहा था (उस समय आँखों से एक बूँद जल भी निकला था), 'ठाकुर, कृपा करो।' उस दिन से पता नहीं कैसे मैं थोड़ा थोड़ा समझ पा रहा हूँ, और मुझे,जैसे किसी ने कुछ कर दिया है। मैंने देखा कि इन ठाकुर की ही कृपा से समझ पा रहा हूँ। और एक मजे की बात यह है कि इन ठाकुर की जितनी बातें सुनता हूँ या कहता हूँ, मैं जो कभी जानता न था वह भी मैं समझ पा रहा हूँ।

प्रबोध—वह जो तुमने कहा कि तुम्हें किसी ने कुछ कर दिया है, उसका अर्थ क्या है ? तुम्हें क्या किया है ? तुम्हें हुआ क्या है—खुलासा करके कहो।

पाठक—मैंने जो कहा है, उससे अधिक और कुछ नहीं कह पाऊँगा। फिर भी ऐसा समझ लो जैसे गहरी नींद में था, और अब मानो नींद उचट गयी है।

प्रबोध—मैं तुम्हारी बात कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ। पर हाँ भाई, तुम्हारे, जैसा कब समझ पाऊँगा ?

पाठक—चलो, हम लोग तो उन ठाकुर के पास ही चल रहे हैं। मैं भी और कुछ मागूँगा, तुम भी कुछ माँग लेना।

प्रबोध—मैं क्या मागूँगा कुछ सोच नहीं पा रहा हूँ, तुम्हीं बता दो।

पाठक—जिनके पास जा रहे हैं, वे ही समझा देंगे, मँगवा देंगे।

ऐसी है रामकृष्णदेव की महिमा—उनके चरित्र की महिमा ! प्रबोध और पाठक ठाकुर की जितनी बातें करते हैं, उतना ही उनमें चैतन्य का उदय होता है और ठाकुर

की लीला में उनकी बुद्धि प्रवेश करती है। रामकृष्ण का नाम ही महामन्त्र है—रामकृष्ण की वाणी की चर्चा ही साधन-भजन है। उनके लीला-चरित का कीर्तन करते-करते ही जीव का चैतन्य जाग उठता है। लकड़ी से लकड़ी को घिसने पर जैसे सर्वव्याप्त अग्नि प्रकट हो जाती है, ठीक वैसे ही रामकृष्ण-वाणी का मन्थन करते रहने से तमोनाश-कारी चैतन्य का उदय होता है।

प्रबोध—तुमने जो कहा कि परमहंसदेव के सम्पर्क में आकर केशवबाबू की दिशा बदल गयी, वह कैसी बात है, मैं समझ नहीं पाया, उसे जरा स्पष्ट करके कहो।

पाठक—जिस व्यक्ति ने यह बात कही थी, मैंने भी तुम्हारे समान न समझ पाने के कारण उससे प्रश्न किया था। उसने जो कहा, मैं भी ठीक समझ नहीं पाया। उसने कहा, 'केशवबाबू पहले निराकार-निराकार करते थे, अब माँ-माँ करते हैं।' इसका अर्थ शायद यह है कि केशवबाबू स्वयं अपनी इच्छानुसार एक रास्ता पकड़कर चल रहे थे, परमहंसदेव ने देखा कि गन्तव्य को पहुँचने के लिए यह सही रास्ते पर चलना नहीं हो रहा है। बस, उन्होंने केशवबाबू को ठीक रास्ते पर लगा दिया।

प्रबोध—बात को जरा और स्पष्ट करो तो सही।

पाठक—सुनो, एक उपमा देकर कहता हूँ। जैसे एक नाव है, जिसका मल्लाह नहीं, और फिर जोरों की हवा बह रही है। नाव दिशा-विशा कुछ देखती नहीं, जिधर हवा ले जा रही है, उधर ही भागी जा रही है। इसमे निश्चित है कि चाहे रेत में धँसकर हो या कठोर

चट्टान से टकराकर हो वह धक्का खाएगी और टूटकर डूब जाएगी। ऐसे समय यदि कोई कुशल मल्लाह उस नाव पर जल्दी से चढ़ जाय तो वह क्या करेगा? वह पतवार को पकड़ नाव को ठीक रास्ते पर चलाकर ले जाएगा। केशबबाबू बड़े अनुरागी व्यक्ति थे, इधर-उधर भटकते फिर रहे थे। ठाकुर ने रास्ता दिखा दिया और उस ओर अग्रसर करा दिया।

(क्रमशः)

●

विवेक-ज्योति के उपलब्ध पुरानें अंक

वर्ष १०	१९७२	अंक ४
वर्ष ११	१९७३	अंक २
वर्ष १२	१९७४	अंक २
वर्ष १४	१९७६	अंक ३ एवं ४
वर्ष १९	१९८१	चारों अंक
वर्ष २०	१९८२	चारों अंक

ये १३ प्रतियाँ आप १६) में प्राप्त कर सकते है। वी० पी० व्यय अलग से लगेगा। कोई प्रति कुछ पुरानी भी हो सकती है।

लिखें :—'**विवेक-ज्योति' कार्यालय, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर।**

योग की परम्परा

(गीताध्याय ४, श्लोक १-३)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

आज से हम गीता के चौथे अध्याय की चर्चा में प्रवृत्त होते हैं। इसका नाम है 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग'। हम कह चुके हैं कि गीता का प्रत्येक अध्याय एक योग कहलाता है। पहले अध्याय को 'विषादयोग' कहा गया है, दूसरे को 'सांख्ययोग', तो तीसरे को 'कर्मयोग'। योग का तात्पर्य है जुड़ना, और अध्यात्म की दृष्टि से उसका अर्थ है जीवात्मा का परमात्मा से जुड़ना। ईश्वर के साथ जीव का ऐसा जुड़ना कई उपायों से हो सकता है। जब जीव अपने विषाद के माध्यम से ईश्वर से युक्त होता है, तो वह 'विषादयोग' है। जब वह अपनी ज्ञानवृत्ति के माध्यम से संयुक्त होना चाहता है, तो वह 'सांख्ययोग' है। जब वह अपनी क्रियाशक्ति को ईश्वर से युक्त होने का माध्यम बनाता है, तब वह 'कर्मयोग' है। अब इस चौथे अध्याय का नाम दिया गया है 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग'। इसका अर्थ है वह योग, जो ऐसे कर्मसंन्यास से सधता है, जो ज्ञान से उपजता है। एक कर्मसंन्यास वह है, जिसके पीछे ज्ञान का आधार नहीं है, अपितु जीवन की प्रतिक्रियाएँ हैं। संसार में कोई अनिष्ट घटा, दुःखद घटना घटी, तो व्यक्ति में मर्कट-वैराग्य या श्मशान-वैराग्य आ जाता है और वह कर्मों को छोड़कर वन में चला जाता है। पर यह अशान्ति और दुःख का निदान नहीं है। गीता के इस चौथे

अध्याय में ऐसे कर्मसंन्यास की चर्चा नहीं हुई है। यहाँ तो वह कर्मसंन्यास है, जो ज्ञान से जन्म लेता है। ऐसे ज्ञानोद्भूत कर्मसंन्यास में कर्मों का रूपतः त्याग नहीं है; कर्म तो बने रहते हैं, लेकिन उनकी बन्धनकारी शक्ति निःशेष हो जाती है। जैसे जली हुई डोर। डोर का रूप तो विद्यमान है, पर उसमें अब बाँधने की क्षमता नहीं है, इसी प्रकार ज्ञानकर्मसंन्यास में कर्म का रूप तो दिखायी देता है, पर उसमें जो बाँधने की क्षमता है, उसका नाश हो जाता है। चौथे अध्याय में इस ज्ञानकर्मसंन्यास की प्राप्ति का उपाय ही वर्णित हुआ है।

पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह ज्ञानकर्मसंन्यास-योग कोई सर्वथा नया रास्ता है। वास्तव में राजमार्ग तो दो ही हैं—एक है प्रवृत्ति का और दूसरा, निवृत्ति का। प्रवृत्ति का अर्थ है कर्मनिष्ठा और निवृत्ति का, ज्ञाननिष्ठा। इन्हीं दो निष्ठाओं की बात भगवान् कृष्ण ने तीसरे अध्याय में कही है, जिन पर हम विस्तार से विचार कर चुके हैं। अब इन दो निष्ठाओं में प्रत्येक के विभिन्न रूप हो सकते हैं। एक स्थूल उदाहरण देकर इसे यों समझा सकते हैं—जैसे, पक्वान्न सामान्यतया दो प्रकार के होते हैं; एक है मिष्ट और दूसरा, लवणयुक्त। यदि मिष्टान्न और नमकीन सामने रखकर लोगों से यथेच्छ लेने के लिए कहा जाय, तो साधारण तौर पर सभी व्यक्ति दोनों में से ही ग्रहण करेंगे। हाँ, यह हो सकता है कि जिसे मिठाई पसन्द हो, वह अधिक मात्रा में मिठाई ले ले और नमकीन कम ले या जिसे नमकीन पसन्द हो, वह

अधिक मात्रा में उसे ग्रहणकरे और मिठाई कम। पर यदि लोगों से यह कहा जाय कि मिठाई और नमकीन इनमें से केवल एक मिलेगा, तो लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार या तो मिठाई लेंगे या नमकीन। अब पेट तो दोनों से भरेगा। उसी प्रकार मुक्ति या सत्य का साक्षात्कार ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों से ही प्राप्त होगा, पर व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार साधना के रूप में इन दोनों में से एक को चुनेगा। सामान्यत: व्यक्ति के जीवन में ज्ञान और कर्म दोनों होते हैं, जैसे खानेवाले मिठाई और नमकीन दोनों का ग्रहण करते हैं। जो ज्ञान को अधिक पसन्द करता है, वह ज्ञाननिष्ठा का साधक कहलाएगा और जो कर्म के प्रति अधिक रुझान का अनुभव करता है, वह कर्मनिष्ठा का।

इसीलिए भगवान् कृष्ण ने पिछले दो अध्यायों में दोनों निष्ठाओं के साधन की बात कही है, पर उन्होंने अर्जुन की मनोवैज्ञानिक पात्रता को देखते हुए कर्मयोग पर अधिक बल दिया है। हममें से अधिकांश अर्जुन के ही साँचे में ढले हैं। इसीलिए अर्जुन को जीव का प्रतिनिधि माना गया है। हम जीवों के लिए कर्मयोग ही अधिक सुकर है। यही कारण है कि गीता में ज्ञान और भक्ति की चर्चा होते हुए भी कर्म पर सर्वाधिक बल दिया गया है। हम पहले भी कह चुके हैं कि गीता में जहाँ भी 'योग' शब्द आया है, उसका अर्थ है कर्मयाग। लोकमान्य तिलक इसी को गीता का प्रतिपाद्य मानते हैं और वे इसे यों व्यक्त करते हैं—'ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग' अर्थात् वह कर्मयोग जो ज्ञान पर आधारित है तथा जिसमें भक्ति की प्रधानता है। कर्म का

पक्ष लेने का यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञान और भक्ति के पक्ष को काट देना। जहाँ भगवान् भाष्यकार कर्मयोग को ज्ञान का साधन मात्र मानते हैं, वहाँ लोकमान्य तिलक उसे स्वतन्त्र मार्ग के रूप में स्वीकार करते हैं और उनका यह सिद्धान्त गीता, महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों के द्वारा भी अनुमोदित होता है, इसकी विस्तार से चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

इस चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् कृष्ण योग की परम्परा का वर्णन करते हैं। यह योग की शाश्वतता को प्रकट करता है। भारतीय मानस ऐसा है कि वह प्राचीनता को किसी तथ्य के प्रमाण के रूप में अधिक ग्रहण करता है। विशेषकर धर्म या तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में जब तक उसका आधार प्राचीनता में नहीं प्राप्त होता, तब तक उसकी प्रामाणिकता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। पाश्चात्य देशों के सन्दर्भ में बात बिलकुल उल्टी है। वहाँ के लोग अत्यन्त नवीन तथ्य को अधिक प्रामाणिकता देते हैं, क्योंकि वे उसे विज्ञान की कसौटियों में अधिक खरा उतरा हुआ मानते हैं। इस अन्तर का कारण यह है कि भारत का सिद्धान्त जहाँ ह्रासवाद को मान्यता देता है, वहाँ पाश्चात्य देश विकासवाद के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं। भारतीय तत्वज्ञान की दृष्टि से वह शुद्ध, निष्कंलक ब्रह्म अपने को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। यह मानो ह्रास की ही प्रक्रिया हुई। ह्रास के बहुत अधिक हो जाने पर कोई विशेष शक्ति अवतरित होती है और संसार को ऊँचे स्थान पर ले जाती है, यह क्रम इसी प्रकार

चलता रहता है। पाश्चात्य देश यह मानते हैं कि जीवन का सतत विकास हो रहा है, इसलिए नवीनता उनके लिए अधिक प्रामाणिक होती है। भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का अन्तर कोई ऐसा नहीं कि समझ में न आए। वास्तव में भारत का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है और पश्चिम का आधिभौतिक। अब भले ही आधिभौतिक दृष्टि से हमारा विकास, हमारी उन्नति हो रही हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से तो हमारा ह्रास ही हो रहा है। इसीलिए भारतीय परम्परा प्राचीनता के प्रति अधिक समर्पित है। पर भारत में भी कालिदास-जैसे कवि हो गये जिन्होंने प्राचीनता की वकालत नहीं की। कालिदास तो कहते हैं—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि किंचिन्नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

—पुरानी होने से ही सब बातें अच्छी नहीं होतीं और नयी होने से ही कोई बात दोषयुक्त नहीं हो जाती। सज्जन पुरुष तो परीक्षा करके किसी बात की अच्छाई या बुराई देखते हैं। ऐसा सोचकर कि किसी ने इस बात को अच्छा कहा है या प्राचीन समय से इसे अच्छा माना जाता रहा है, किसी बात का विश्वास कर लेना मूढ़ पुरुष का काम है।

फिर भी भारत में, विशेषकर धर्म और अध्यात्म के

क्षेत्र में, ऐसी परम्परा रही कि सिद्धान्त की प्राचीनता ही उसकी प्रामाणिकता का आधार रही। इसीलिए भगवान् कृष्ण अपने द्वारा दिये गये उपदेश की प्राचीनता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)—अहम् (मैंने) इमम् (यह) अव्ययं (अव्यय) योगं (योग) विवस्वते (विवस्वान् से) प्रोक्तवान् (कहा था) विवस्वान् (सूर्य ने) मनवे (मनु से) प्राह (कहा) मनुः (मनु ने) इक्ष्वाकवे (इक्ष्वाकु को) अब्रवीत् (बतलाया)।

"श्रीभगवान् बोले—मैंने यह अव्यय योग सूर्य को बतलाया था। सूर्य ने [अपने पुत्र] मनु को यह बतलाया और मनु ने [अपने पुत्र] इक्ष्वाकु से यह कहा।"

परंतप (हे शत्रुतापन) एवं (इस प्रकार) परम्पराप्राप्तम (वंश-परम्परा से चले आये) इमं (इस [योग] को) राजर्षयः (राजर्षिगण) विदुः (जानते थे) सः योगः (वह योग) महता कालेन (दीर्घ काल से) इह (इस [लोक] में) नष्टः (नष्ट हो गया)।

"हे परंतप ! इस प्रकार वंश-परम्परा से चले आये इस योग को राजर्षिगण जानते थे। वह योग कालप्रभाव से इस लोक में नष्ट हो गया।"

अयं (यह) सः (वह) एव (ही) पुरातनः (पुरातन) योगः (योग) मया (मेरे द्वारा) अद्य (अभी) ते (तेरे प्रति) प्रोक्तः (कहा गया है) इति (इसलिए कि) [त्वं] [तुम] मे (मेरे) भक्तः सखा च असि (भक्त और सखा हो) एतत् (यह) हि (वास्तव में) रहस्यम् (रहस्य) उत्तमम् (उत्तम है)।

"यह वही पुरातन योग है, जो अभी मेरे द्वारा तेरे प्रति कहा गया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है। यह वास्तव में [धर्म का] सबसे गूढ़ रहस्य है।"

इन तीनों श्लोकों में भगवान् कृष्ण योग की गुरु-शिष्य-परम्परा का वर्णन कर योग की प्रशंसा और महिमा का बखान करते हैं। इस परम्परा से योग की प्राचीनता सिद्ध की गयी है। यहाँ यह बताया गया है कि सृष्टि के साथ ही योग का भी आरम्भ हो गया और इसलिए वह सृष्टि के समान ही शाश्वत है। भगवान् कृष्ण इस योग को 'अव्यय' कहते हैं—वह योग, जो कभी क्षीण नहीं होता। भगवान् बुद्ध की भाषा में यह 'धम्म' है, जिसे अँगरेजी में Eternal Law (शाश्वत नियम) कहेंगे।

'इमं योगं' कहकर उस कर्मयोग को ध्वनित किया गया है, जिसकी चर्चा दूसरे और तीसरे अध्यायों में हुई है। पर शंकराचार्य इस 'योग' से 'ज्ञानयोग' का तात्पर्य

लेते हैं। उनके मतानुसार ज्ञानयोग का अर्थ होता है 'संन्यासयोग', यानी यतियों का धर्म। वे इस प्रथम श्लोक पर भाष्य करते हुए प्रारम्भ में लिखते हैं—'यः अयं योगः अध्यायद्वयेन उक्तः ज्ञाननिष्ठालक्षणः ससंन्यासः कर्मयोगोपायः, यस्मिन् वेदार्थः परिसमाप्तः प्रवृत्तिलक्षणः निवृत्तिलक्षणः च, गीतासु सर्वासु अयम् एव योगः विवक्षितः भगवता'— अर्थात् 'यह जो योग पिछले दोअध्यायों में कहा गया है, जो ज्ञान-निष्ठारूप और संन्याससहित है, जिसका कि कर्मयोग उपाय है, जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षणों वाले वेद के अर्थ की परिसमाप्ति है, सम्पूर्ण गीता में वही योग विवक्षित है।'

महाभारत के अन्तर्गत 'नारायणीयोपाख्यान' आता है। वहाँ भागवतधर्म का निरूपण करते हुए यह कहा गया है कि गीता में भी इसी भागवतधर्म का वर्णन किया गया है। विद्वानों ने महाभारत के इस भागवत धर्म को गीता के कर्मयोग से भिन्न नहीं माना है। अतः गीता में जहाँ जहाँ योग शब्द अकेला बिना किसी विशेषण के आया है, वहाँ उसका अर्थ कर्मयोग ही पकड़ना होगा। 'नारायणीयोपाख्यान' में वैशम्पायन जनमेजय से कहते हैं (शान्तिपर्व, ३४६)—

> **नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः।**
> **एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥१०॥**
> **एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।**
> **कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥११॥**

—'नरेश्वर ! देवर्षि नारद ने तो रहस्य और संग्रहसहित

इस धर्म को साक्षात् जगदीश्वर नारायण से ही प्राप्त किया था। नृप श्रेष्ठ ! इस प्रकार यह महान् धर्म मैंने तुम्हें पहले हरिगीता में संक्षेप से बताया है।' फिर वहाँ (३४८वें अध्याय] में। यह भी कहा है कि 'जिस समय कौरव और पाण्डवों की सेनाएँ युद्ध के लिए आमने-सामने डटी हुई थीं और अर्जुन युद्ध से अनमना हा रहा था, उस समय स्वयं भगवान् ने उसे गीता में इस धर्म का उपदेश दिया'—

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥८॥

इस धर्म को महाभारत के इस नारायणीयोपाख्यान में 'सात्वत धर्म' कहकर भी पुकारा गया है और यह कहा गया है कि इस धर्म का प्रचलन पूर्व पूर्व छः मन्वन्तरों में भी हुआ था। कालप्रभाव से उसकी परम्परा नष्ट होती गयी, फिर यह सातवाँ मन्वन्तर आया, जो अभी चल रहा है। इस उपाख्यान में ३४८वें अध्याय में १३वें से लेकर ४७वें श्लोक तक सात्वतधर्म की उपदेश-परम्परा का वर्णन करते हुए वताया गया है कि किस प्रकार पूर्व के छः मन्वन्तरों में यह धर्म प्रचलित होकर लुप्त हो गया। फिर सातवें मन्वन्तर की चर्चा करते हुए वहीं पर कहा गया है—

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह ॥४८॥
पितामहाय शुद्धाय युगादौ लोकधारिणे।
पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ ॥४९॥

ततो ज्येष्ठे तु दौहित्रे प्रादाद् दक्षो नृपोत्तम ।
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वान् जगृहे ततः ॥५०॥
त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥५१॥
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ॥५२॥

—'नरेश्वर ! यह जो ब्रह्माजी का भगवान् के नाभि-कमल से सातवाँ जन्म हुआ है, इसमें स्वयं नारायण ने ही कल्प के आरम्भ में जगद्धाता शुद्धस्वरूप ब्रह्मा को इस धर्म का उपदेश दिया; फिर ब्रह्माजी ने सबसे पहले प्रजापति दक्ष को इस धर्म की शिक्षा दी। नृपश्रेष्ठ ! इसके बाद दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र—अदिति के सविता से भी बड़े पुत्र को इस धर्म का उपदेश दिया। उन्हीं से विवस्वान् (सूर्य) ने इस धर्म का उपदेश ग्रहण किया। फिर त्रेतायुग के आरम्भ में सूर्य ने मनु को और मनु ने सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिए अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इसका उपदेश दिया। इक्ष्वाकु के उपदेश से इस सात्वतधर्म का सम्पूर्ण जगत् में प्रचार और प्रसार हो गया। नरेश्वर ! कल्पान्त में यह धर्म फिर भगवान् नारायण को ही प्राप्त हो जायगा।'

अब सात्वतधर्म की उपदेश-परम्परा का यह जो वर्णन है, वही हूबहू गीता में योग की उपदेश-परम्परा है। अतएव यह मानना तर्कसंगत है कि सात्वतधर्म ही योग है। या यों कहें—योग यानी कर्मयोग यानी भागवतधर्म यानी सात्वतधर्म। तो, ऊपर यह बताया गया कि प्रथम मन्व-न्तर, जो 'स्वायम्भुव' के नाम से परिचित हैं, में वह योग

नारद ने नारायण से प्राप्त किया था और अब इस सप्तम मन्वन्तर, जो 'वैवस्वत्' के नाम से जाना जाता है, में योग की परम्परा यों दर्शायी गयी है—नारायण से ब्रह्मा, ब्रह्मा से दक्ष, दक्ष से उसके ज्येष्ठ दौहित्र को, फिर उससे उसके छोटे भाई विवस्वान् को। विवस्वान् के बाद की परंपरा गीतोक्त क्रम के अनुसार ही है। दक्ष का दौहित्र था विष्णु नामक आदित्य, जो अदिति का पुत्र था। इसी विष्णु आदित्य का उल्लेख करते हुए भगवान् ने गीता के 'विभूतियोग' नामक दसवें अध्याय में कहा है—'आदित्यानामहं विष्णुः' (२१)। इस प्रकार गीता में भगवान् ने विवस्वान् को जो योग देने की बात कही है, वह पुष्ट हो जाती है।

यह सब दर्शाने का तात्पर्य यह बताना है कि यह योग शाश्वत है। इसीलिए इस धर्म को 'सनातन' कहा गया है। यही हिन्दू धर्म का मौलिक स्वरूप है। इसकी मौलिकता इसमें है कि इसका कोई संस्थापक नहीं है, जैसा कि अन्य धर्मों के संस्थापक और प्रवर्तक रहे हैं। हम राम या कृष्ण को इसलिए नहीं मानते कि वे हिन्दू धर्म के प्रवर्तकों में से थे, बल्कि इसलिए कि वे इस सनातन धर्म के मूर्तिमन्त विग्रह थे, उन लोगों ने अपने जीवन के माध्यम से सनातन धर्म को अभिव्यक्त किया था। यही कारण है कि जब अन्य धर्म अपने संस्थापकों की ऐतिहासिकता के अभाव में गिर पड़ेंगे, हमारा यह सनातन धर्म शाश्वत रूप से विद्यमान रहेगा, क्योंकि उसका कोई प्रवर्तक नहीं है।

विवेच्य प्रथम श्लोक में भगवान् कृष्ण ने सूर्यवंश का

उल्लेख किया। यह सूर्यवंश अत्यन्त प्रतापी राजवंश माना गया है। विवस्वान् किसी मनुष्य का ही नाम होना चाहिए, जिनके पुत्र मनु थे। वे सूर्य के ही समान प्रतापी रहे होंगे, इसीलिए उनका नाम विवस्वान् पड़ा। मनु को मानवों का आदिपुरुष माना जाता है। वैसे मनु कई हैं। एक के नाम पर तो 'मनुस्मृति' ही है।

दूसरे श्लोक में भगवान् कहते हैं कि यह योग परम्परा से राजर्षियों को ही प्राप्त था, पर दीर्घकाल के अन्तराल में वह नष्ट हो गया। इस कथन से ऐसा ध्वनित होता है कि क्षत्रिय लोग ही वंश-परम्परा से इस योग के—कर्मयोग के ज्ञाता थे। यह ज्ञान ब्राह्मणों के पास नहीं था। जब हम वेदों को पढ़ते हैं, तब उसके दो भाग दिखायी पड़ते हैं। एक तो है पूर्वमीमांसा, जिसे कर्मकाण्ड या वेद कहकर पुकारा गया, और दूसरा है उत्तरमीमांसा, जिसे ज्ञानकाण्ड या वेदान्त कहा गया। पूर्वमीमांसा यदि ब्राह्मणों के अधिकार में थी, तो उत्तरमीमांसा क्षत्रियों के। पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत संहिता और ब्राह्मण आते हैं, तो उत्तरमीमांसा के अन्तर्गत आरण्यक और उपनिषद्। वेदान्त में भावों की उदारता और व्यापकता दर्शनीय है। कर्मकाण्ड में पुरोहितों की संकीर्णता और सीमितता दिखायी देती है। इसीलिए वेदों के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि जहाँ पुरोहितों की अनुदार दृष्टि के कारण वेदों का प्रचार-प्रसार जनमानस में नहीं हो पाया, वहाँ क्षत्रियों की उदारता के कारण वेदान्त का प्रचार धर्म को शक्ति प्रदान करता रहा। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भारतीय धर्म और

संस्कृति की उदारता और व्यापकता में ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रितों का अधिक हाथ रहा ।

पौराणिक कथाओं में हमें सिद्ध पुरुषों की दो श्रेणियाँ प्राप्त होती हैं—एक ब्रह्मर्षि, जो निवृत्तिपरायण थे और दूसरी राजर्षि, जो प्रवृत्तिपरायण थे । ब्रह्मर्षि सामान्यतया संसार-त्यागी होते थे, पर राजर्षि संसार-जल में कमलपत्रवत् निर्लिप्त रहते थे। दोनों ही आत्म-तत्व के ज्ञाता ये, पर राजर्षियों ने इसे व्यवहार में, आचरण में उतारा था। ब्रह्मर्षियों के प्रतीक यदि शुकदेव थे, तो राजर्षियों के, राजा जनक। अध्यात्म यदि केवल सिद्धान्त में कैद रहे और व्यवहार में न उतरे, तो ऐसा अध्यात्म निष्फल माना जाता है। इसीलिए अध्यात्मवादी शुकदेव को व्यावहारिक शिक्षा के लिए उनके पिता व्यासदेव राजा जनक के पास भेजते हैं। जनक का ऐश्वर्य देख शुकदेव चकित हो जाते हैं ओर सोचते हैं कि ऐसा ऐश्वर्य-भोगसम्पन्न व्यक्ति भी क्या ज्ञानी हो सकता है ? वे सोचते हैं कि इन विविध भोग-वस्तुओं के बीच जनक अपने मन ब्रह्म में कैसे स्थित रख सकते हैं ? शुकदेव को शिक्षा देने के लिए जनक ने एक शर्त रखी। उन्होंने एक कटोरा दूध से लबालब भरकर शुकदेव के हाथों में दिया और कहा कि तुम नगर की एक परिक्रमा लगा आओ, पर ध्यान रखना दूध की एक भी बूँद कहीं छलक न जाय। हम पढ़ते हैं कि शुकदेव हाथों में दूध का कटोरा ले नगर-परिक्रमा के लिए निकल पड़ते हैं। रास्ते में महाराज जनक ने आकर्षक गीत-नृत्य आदि की महफिलें

लगवा दी थीं। पर शुकदेव एकाग्रचित्त हो इतनी सावधानी से दूध का कटोरा ले जा रहे थे कि उनकी दृष्टि को बाहर के विषय-भोग अपनी ओर न आकर्षित कर सके। उनके परिक्रमा कर लेने पर जब राजा जनक ने उनसे पूछा कि रास्ते में उन्होंने क्या क्या देखा, तो शुकदेव ने उत्तर दिया कि वे तो इस चिन्ता के मारे कि दूध कहीं छलक न जाय, इधर-उधर कहीं देख न सके। तब महाराज जनक ने हँसकर कहा कि बस, मैं भी इसी प्रकार एक मन से भगवान् का चिन्तन करते रहने के कारण संसार में रहते हुए भी संसार की ओर आकर्षित नहीं होता !

फिर, उपनिषद् में ऐसे कई उदाहरण हैं, जहाँ ब्राह्मण-गण क्षत्रिय राजाओं के पास इस योग को सीखने गये हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' (५।३) में श्वेतकेतु की कथा आती है, जो पांचालराज प्रवाहण जैवलि की सभा में जाता है। जैवलि पूछता है—क्या तुम्हें पिता ने शिक्षा दी है? उसके 'हाँ' कहने पर वह श्वेतकेतु से पाँच प्रश्न पूछता है, पर श्वेतकेतु एक का भी उत्तर नहीं दे पाता। तब वह खीजकर अपने पिता आरुणि ऋषि के पास आकर उन्हें फटकारता है कि उन्होंने उसे पर्याप्त शिक्षा नहीं दी, इसीलिए वह पाँच में से एक प्रश्न का भी उत्तर न दे सका। तब आरुणि ने कहा—'बेटा, मैं स्वयं इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता। चलो, चलकर जैवलि से शिक्षा प्राप्त करें।' तब दोनों पांचालराज के पास आते हैं और राजा से विद्या के उपदेश की प्रार्थना करते हैं। राजा संकोच में पड़ गया, क्योंकि विद्या क्षत्रियों के पास ही सुरक्षित थी। वह

बोला—'इयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनम् अभूत् इति'—'तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गयी थी इसीलिए सभी लोकों पर क्षत्रियों का वर्चस्व था।' पर जब आरुणि ने पुनः अनुरोध किया, तो जैवलि ने पिता-पुत्र दोनों को इस विद्या का विधिवत् उपदेश प्रदान किया।

स्वामी विवेकानन्द भी वेदान्त-ज्ञान के लिए विश्व को क्षत्रियों का ही ऋणी मानते हैं। 'व्यावहारिक जीवन में वेदान्त' नामक अपने चार व्याख्यानों में उन्होंने इसका विशद वर्णन किया है कि कैसे ये राजा अत्यन्त कर्म-व्यस्त होते हुए भी वेदान्त के ज्ञान को अपने जीवन में उतारे हुए थे। ब्राह्मण यज्ञ की जटिलता में अपने को खपा देता है, यज्ञ के फलस्वरूप मिलनेवाले लाभालाभ में, स्वर्गादि लोकों की अर्थहीन चिन्ता में अपना समय जाया कर देता है, जबकि क्षत्रिय आत्मज्ञान को अपने जीवन की क्रियाओं में उतारते हुए समाज को वेदान्त का अमृत बाँटता है। इसी को गीता ने 'योग' कहकर पुकारा है। तभी तो भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इस योग को वंश-परम्परा से राजर्षियों ने ही जाना था। पर यह योग कालप्रभाव से नष्ट हो गया। भगवान् भाष्यकार इस श्लोक पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'दुर्बलान् अजितेन्द्रियान् प्राप्य नष्टं योगम्'—'दुर्बल और असंयमी लोगों के हाथ में पड़कर योग नष्ट हो गया।' तात्पर्य यह कि यदि योग के पीछे इन्द्रिय-संयम और सुदृढ़ मनोबल न हो, तो योग नष्ट हो जाता है। जिन क्षत्रियों

के पास वंश-परम्परा से यह योग आया, बाद में उनमें ऐसे भी व्यक्ति निकले, जो असंयमी थे, मन से दुर्बल थे। फल यह हुआ कि विद्या वहाँ तक आकर नष्ट हो गयी। व्यक्ति अपने संयम और साधना से विद्या में तेजस्विता लाता है और अपने बाद की पीढ़ी को उसका दान करता है। पर यदि मैं इन्द्रियलोलुप और विषयी होऊँ, तो ऊपर से प्राप्त विद्या को तेजस्वी तो बना ही नहीं सकूंगा, उल्टे अपने असंयम से उसके तेज को नष्ट कर विद्या को ही खत्म कर डालूँगा। यह आज सर्वत्र दिखायी देता है। जिन परिवारों में आज से कुछ वर्ष पहले श्रुति की, वेद की शाखाएँ सुरक्षित थीं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन लोगों के संयम के फलस्वरूप अभी तक चली आ रही थीं, आज संयम और साधना के अभाव में वे श्रुति-शाखाएँ समाप्त हो रही हैं। यही 'महता कालेन योगो नष्टः, का तात्पर्य है। आचार्य शंकर योग के नाश का कारण बताते हुए गीता की भूमिका में लिखते हैं—'दीर्घेण कालेन अनुष्ठातृणां कामोद्भवाद् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन, अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे, प्रवर्धमाने च अधर्मे'—'दीर्घकाल के बाद अनुष्ठाताओं में भोग-वासना की वृद्धि के कारण, विवेक-ज्ञान के क्षीण हो जाने के कारण, अधर्म के द्वारा धर्म को दबा दिया जाने के कारण और अधर्म के बढ़ने के कारण।'

यहाँ एक शंका हो सकती है कि पहले श्लोक में तो योग को 'अव्यय' कहा और दूसरे श्लोक में बताया कि 'योग नष्ट हो गया'; अब 'अव्यय' कैसे नष्ट होगा? इसके उत्तर में व्याख्याकार कहते हैं कि यहाँ पर नष्ट होने का

तात्पर्य समूल नाश से नहीं है, बल्कि दब जाने से है। 'योग कालप्रभाव से दब गया'—ऐसा अर्थ लेना चाहिए।

अब तीसरे श्लोक में कहते हैं कि अर्जुन, मैंने इसी पुरातन योग को अभी तेरे सामने कहा है, अर्थात् उसी दबे हुए योग को फिर से प्रकट किया है। क्यों प्रकट किया है? इसलिए कि तू मेरा भक्त है और सखा है। भगवान् के इस कथन से ऐसा ध्वनित होता है कि वे पक्षपाती हैं और उनको योग नहीं देना चाहते, जो उनके भक्त और सखा नहीं हैं। जब यह योग रहस्यों में उत्तम है, सबसे गूढ़ विद्या है, सबका कल्याण करता है, तब तो इसका प्रचार सर्वत्र होना चाहिए। भगवान् स्वयं इसके प्रचार की बात करते हुए गीता के अठारहवें अध्याय के अन्त में कहते हैं—

> **य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।**
> **भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥**
> **न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।**
> **भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥**
> **अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।**
> **ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥**
> **श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।**
> **सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥**

—'जो मेरे प्रति परम भक्ति रखते हुए मेरे भक्तों को इस परम गूढ़ रहस्य की शिक्षा देगा, वह निस्सन्देह मुझी को प्राप्त होगा। उससे बढ़कर मेरा प्रिय करनेवाला न तो इस पृथ्वी पर कोई है और न कोई मेरा प्रिय इस पृथ्वी पर होगा। जो भी हमारे इस पुनीत संवाद का अध्ययन

करेगा, मैं उसके द्वारा ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा—ऐसी मेरी धारणा है। और जो श्रद्धापूर्वक एवं दोषदृष्टि से रहित हो इसे सुनेगा, वह भी पाप से मुक्त हो जाएगा और पुण्यकर्मियों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा।' जब भगवान् का भी इस विद्या के सम्बन्ध में ऐसा उदार मत एक ओर दीख पड़ता है, तब दूसरी ओर वे अर्जुन से ऐसा क्यों कहते हैं कि तू मेरा भक्त और सखा है इसीलिए तुझे यह विद्या दी है? इसका कारण यह है कि इस विद्या को भी ग्रहण करने की पात्रता चाहिए। पात्रता का तात्पर्य किसी विशिष्ट वर्ण में जन्म लेना या किसी विशिष्ट आश्रम के अन्तर्गत रहना नहीं है। उसका अर्थ है उस विद्या के धारण करने की मानसिक योग्यता अर्जित करना। ऐसे स्थान पर बीज फेंकने का क्या तात्पर्य, जहाँ जमीन पथरीली है? वहाँ तो बीज नष्ट हो जायगा। हम वहीं बीज बोते हैं, जहाँ उसके अंकुरित और पल्लवित होने की सम्भावनाएँ होती हैं। इसी प्रकार विद्या ऐसे व्यक्ति को दी जानी चाहिए, जहाँ वह फलप्रसू हो सकेगी। गीता के अन्तिम अध्याय में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को चेतावनी दे दी है कि किसके पास यह विद्या नहीं कहनी चाहिए। वहाँ भगवान् कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।६७।।

—'जो तपरहित है, जो भक्त नहीं है, जो सेवाभावी नहीं है तथा जो मेरी निन्दा करता है, उसके प्रति कभी भी तुझे यह विद्या नहीं कहनी चाहिए।' इसका तात्पर्य यह

है कि जो तपस्वी है, भक्त है, सेवाभावी है और जो भगवान् में दोष नहीं देखता ऐसे चार लक्षणों से युक्त व्यक्ति को यह विद्या दी जा सकती है। यहाँ तपस्वी का तात्पर्य है संयमी, जो अपने आप पर नियंत्रण रखता है। सेवाभावी का अर्थ है विद्या-प्राप्ति की निष्ठा। जिसके भीतर में विद्या के लिए अकुलाहट होती है, वह गुरु के पास जाकर भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करता है। गीता में ही इसी अध्याय में अन्यत्र कहा है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' —'उस ज्ञान को गुरु को प्रणाम करके, उनसे प्रश्न करके और उनकी सेवा करके प्राप्त करो।' अतः सेवा का, शुश्रूषा का यहाँ पर तात्पर्य विद्या के प्रति निष्ठा से है। अब यह सहज रूप से विदित है कि अर्जुन में ये चारों गुण थे। वह संयमी था, इन्द्रियजयी था, स्वर्ग में उर्वशी के काम-प्रस्ताव को ठुकरा देता है। भक्त तो वह था ही, इसका प्रमाणपत्र उसे भगवान् ही दे देते हैं। विद्या-प्राप्ति के लिए उसकी जिज्ञासा उसके प्रश्नों के द्वारा ही प्रकट हो रही है, उसने भगवान् से कह भी दिया है—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—'मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरण में आये हुए को आप शिक्षा दीजिए'। फिर उसमें श्रीकृष्ण के प्रति कोई द्वेष-बुद्धि है नहीं, न ही उनके प्रति कोई दोष-दर्शन है। इसका भी प्रमाणपत्र भगवान् कृष्ण उसे 'सखा' कहकर दे देते हैं। अतएव यदि भगवान् ने अर्जुन से ऐसा कहा कि तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिए तुझे यह योग दे रहा हूँ, तो इसमें कोई आलोचना के लायक बात नहीं दिखती, क्योंकि अर्जुन इसका अधिकारी है।

'रहस्य' विद्या की प्रतिष्ठा को व्यक्त करता है और 'गोपनीयता' विद्या की गम्भीरता दर्शाती है। ऐसा सर्व-श्रेष्ठ रहस्य उसी को दिया जा सकता है, जो भक्त भी है और सखा भी। वह न तो केवल भक्त को दिया जा सकता है, न केवल सखा को। केवल सखा को न दिये जाने की बात तो समझ में आती है। सखा में श्रद्धाभाव न हो, तो उसे यह ज्ञान देकर क्या लाभ ? श्रीकृष्ण के कितने ही सखा थे, पर अन्य किसी को तो यह ज्ञान उन्होंने नहीं दिया। विवस्वान् और उद्धव को छोड़ दें, तो और कोई ऐसा नहीं है, जिसे अर्जुन के समान यह अति गूढ़ रहस्य-वाली विद्या भगवान् ने दी हो। पर यह जो कहा कि केवल भक्त को भी यह विद्या नहीं देनी चाहिए इसका क्या तात्पर्य ? यह कि भक्त यह गूढ़ ज्ञान नहीं चाहता। भक्ति के पाँच प्रकार के भाव होते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। शान्त भक्त ईश्वर को अपना अन्तरात्मा मानता है। दास्य भक्त उसे अपने स्वामी के रूप में देखता हुआ उसकी सेवा करना चाहता है। वात्सल्य भाव से युक्त भक्त ईश्वर को अपने से छोटा मानता है और उसकी देखरेख एवं रक्षा करना चाहता है। मधुरभाव से युक्त भक्त ईश्वर को अपना प्रियतम, प्राणाराम मानता है। ये चारों प्रकार के भक्त ऐसे हैं, जिन्हें ईश्वर के इस गूढ़ ज्ञान की आवश्यकता नहीं। उन्हें यह योग निष्प्रयोजन मालूम होता है। अतएव सख्य भाव से युक्त भक्त ही ऐसा है, जो इस योग का अधिकारी है। इसीलिए भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिए यह योग तेरे प्रति मैंने कहा है।

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन (५)

स्वामी वागीश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

(१७)

रचयिता—अज्ञात

(राग—भीमपलासी : ताल—एकताल)

आमि 'दुर्गा दुर्गा' बोले मा जदि मरि।
आखेरे ए दीने ना तारो केमने
जाना जाबे गो शंकरी॥
नाशि गो ब्राह्मण, हत्या करि भ्रूण,
सुरापान आदि विनाशि नारी।
ए सब पातक, ना भाबि तिलेक,
ब्रह्मपद निते पारि॥

(भावानुवाद)

(राग—भीमपलासी : ताल—कहरवा)

'दुर्गा दुर्गा' कहते कहते यदि माँ निकलें मेरे प्राण।
देखूँ भला शंकरी कैसे ना करती तू मेरा त्राण॥
अगर करूँ गो-द्विज-नारीवध, भ्रूणघात औ' मदिरापान।
फिर भी तनिक न भय पातक का, ले सकता हूँ पदनिर्वाण॥

(१८)

रचयिता—राजा नवचन्द्र

(धुन—मनोहरसाही : ताल—झपताल)

सकलि तोमारि इच्छा इच्छामयी तारा तुमि।
तोमार कर्म तुमि करो मा, लोके बोले करि आमि ।।
पंके बद्ध करो करि, पंगुरे लंघाओ गिरि।
कारे दाओ मा ब्रह्मपद, कारे करो अधोगामी ।।
आमि जंत्र, तुमि जंत्री, आमि घर तुमि घरनी।
आमि रथ, तुमि रथी, जेमन चालाओ तेमनि चलि ।।

(भावानुवाद)

(धुन—मनोहरसाही : ताल—कहरवा)

सभी तुम्हारी इच्छा है माँ, इच्छामयी तुम्हीं हो तारा।
अपना काम आप करतीं तुम, जीव कहे 'मैं' भ्रम का मारा ।।
फँसे कीच में गज बलशाली, पंगु बने गिरिलंघनहारा।
ब्रह्मज्ञान इक पावे, दूजा बने अधोगामी बेचारा ।।
तुम यंत्री, मैं यंत्र मात्र हूँ, तुम गृहिणी मैं गेह तुम्हारा।
तुम सारथि, मैं रथ, चलता हूँ, जैसा माँ तुम करो इशारा ।।

(१९)

रचयिता—दाशरथि राय

(धुन—मनोहरसाही : ताल—एकताल)

गिरि गणेश आमार शुभकारी।
पूजे गणपति पेलाम हैमवती,
जाओ जाओ गिरि आनो गौरी ।।

बिल्ववृक्षमूले पातिये बोधन,
गणेशेर कल्याणे गौरीर आगमन।
घरे आनबो चण्डी, कर्णे शुनबो चण्डी,
आसबे कतो दण्डी जटाजूटधारी॥
मेयेर कोले मेये दुटि रूपसी,
लक्ष्मी सरस्वती शरतेर शशि।
सुरेश कुमार गणेश आमार,
तादेर ना देखिले झरे नयन वारि॥

(भावानुवाद)

(राग—मनोहरसाही : ताल—कहरवा)

गिरिवर गणेश मम शुभकारी।
पूज गणपति मिली हैमवती, जाओ गिरि ले आओ गौरी।
बिल्वतले होवे जब पूजन, गौरी आवे गणेश-कारण।
घर ला भगवति, सुनूँ सप्तशति, आवे यति दंड-जटाधारी॥
शरद-इंदु सम दो कन्याएँ, लक्ष्मी सरस्वती सँग आएँ।
आवें गजमुख, कुमार षण्मुख, उन दरसन बिन नैन दुखारी॥

(२०)

रचयिता—अज्ञात

(राग—भैरवी : ताल—एकताल)

जागो मा कुल-कुण्डलिनी।
तुमि नित्यानन्द-स्वरूपिणी तुमि ब्रह्मानन्द-स्वरूपिणी।
प्रसुप्त-भुजगाकारा आधारपद्मवासिनी॥

त्रिकोणे ज्वले कृशानु, तापित होइलो तनु,
मूलाधार त्यजो शिवे स्वयंभू-शिव-वेष्टिनी ॥
गच्छ सुषुम्नार पथ, स्वाधिष्ठाने हओ उदित ।
मणिपुर - अनाहत - विशुद्धाज्ञा - संचारिणी ॥
शिरसि सहस्रदले, परमशिवेते मिले,
क्रीड़ा करो कुतूहले सच्चिदानन्ददायिनी ॥

(भावानुवाद)

(राग—मिश्र भैरवी . ताल—तीनताल)

अब जागो माँ कुलकुण्डलिनी ।

तुम नित्यानन्द-स्वरूपिणी, तुम ब्रह्मानन्द-स्वरूपिणी ॥
आधारकमल में निद्रित हो कब से देवि भुजंग-रूपिणी ॥
त्रिकोण में नित जले अनल है, हुआ तप्त तव तनु उज्ज्वल है
तज अब मूलाधार शिवे, हे स्वयंभू - शिव - तनुवेष्टिनी ।
शीघ्र सुषुम्ना-मार्ग क्रमण कर, स्वाधिष्ठानादि में भ्रमण कर ।
मणिपुर-अनाहत-विशुद्ध-आज्ञादि-कमलदल-विहारिणी ॥
सहस्रार-कमल-आसीन हो, परमात्मा शिव में विलीन हो ।
कर क्रीड़ा कौतूहल से, हे सत्-चित्-आनन्द-रूपिणी ॥

●

रामकृष्ण-सूक्ति-मन्दाकिनी

संसार में रहने वाले साधक का आदर्श

१. तान्त्रिक शवसाधना में साधक को शव की छाती पर बैठकर साधना करनी होती है। उक्त शवसाधना करते समय साधक को पास ही चना-चबैना और मदिरा लेकर बैठना पड़ता है। साधना के समय बीच में यदि शव जागकर मुँह फाड़े तो उस समय उसके मुँह में कुछ चना और मदिरा देना पड़ता है। ऐसा करने से वह फिर स्थिर हो जाता है, अन्यथा वह साधक को डराकर साधना में विघ्न उत्पन्न करता है। इसी तरह तुम्हें संसार में रहकर साधना करनी हो तो पहले संसार की जरूरी माँगों की पूर्ति का प्रबन्ध कर लो, अन्यथा संसाररूपी शव तुम्हारी साधना में विघ्न डालेगा।

२. संसार में धन की जरूरत है तो सही, परन्तु उसके लिए ज्यादा सोचना नहीं। यदृच्छावलाभसन्तुष्ट रहना—अपने आप जो मिल जाए उसी में सन्तोष करना सबसे अच्छा भाव है संचय के लिए ज्यादा सोच मत करो। जिन्होंने अपना मन-प्राण प्रभु को सौंप दिया है, जो उनके भक्त हैं, शरणागत हैं, वे लोग यह सब इतना नहीं सोचा करते। उनके पास जैसी आय, वैसा ही व्यय। रुपया एक ओर से आता है, दूसरी ओर से खर्च हो जाता है।

३. एक गृहस्थ भक्त—महाराज, क्या मुझे ज्यादा पैसा पाने के लिए कोशिश करनी चाहिए ?

श्रीरामकृष्ण—हाँ, यदि तुम विवेक-विचार के साथ संसार-धर्म का पालन करो तो ऐसे संसार के लिए

आवश्यक धन कमा सकते हो, पर ख्याल रहे कि तुम्हारी कमाई ईमानदारी कीहो, क्योंकि तुम्हारा उद्देश्य धन कमाना नहीं है, ईश्वर की सेवा करना ही तुम्हारा उद्देश्य है; ईश्वर की सेवा के लिए धन कमाने में कोई दोष नहीं।

भक्त—महाराज, संसार के प्रति कर्तव्य कब तक रहता है?

श्रीरामकृष्ण—जब तक संसार में सबकी गुजर-बसर का प्रबन्ध न हो जाए। अगर तुम्हारे बच्चे अपने पैरों पर खड़े हो जाएँ तो फिर उनके प्रति तुम्हारा कर्तव्य नहीं रह जाता।

४. श्रीरामकृष्ण (गृहस्थ भक्तों के प्रति)—तुम्हें रुपये की ओर इस दृष्टि से देखना चाहिए कि उससे दाल-रोटी मिलती है पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए मकान मिलता है, ठाकुरजी की पूजा और साधु-भक्तों की सेवा होती है। परन्तु धन-संचय करना व्यर्थ है। मधु-मक्खियाँ कितनी मेहनत से छत्ता तैयार करती हैं, पर दूसरा ही कोई आदमी आकर उसे तोड़ ले जाता है। स्त्री का पूरी तरह त्याग तुम लोगों के लिए नहीं है। परन्तु लड़के-बच्चे हो जाने पर पति-पत्नी को भाई-बहन की तरह रहना चाहिए।

५. प्रश्न—हमें तो हमेशा दाल-रोटी की फिक्र करनी पड़ती है, हम साधना कैसे करें?

उत्तर—तुम जिसके लिए श्रम करोगे, जिसका काम करोगे, वही तुम्हें भोजन देगा। जिसने तुम्हें संसार में भेजा

है उसने पहले से ही तुम्हारी खुराक का प्रबन्ध कर रखा है।

६. घर-संसार, लड़के-बच्चे, परिवार सब दो दिन के लिए हैं। ताड़ का पेड़ ही सत्य है, फल अनित्य है—लगते और झड़ जाते हैं।

७. कामिनी-कांचन का पूर्ण त्याग संन्यासी के लिए है। संन्यासी को स्त्रियों का चित्र तक नहीं देखना चाहिए अचार या इमली की याद आते ही मुँह में पानी आ जाता है, देखने या छूने की तो बात ही क्या! पर तुम जैसे गृहस्थों के लिए इतना कठिन नियम नहीं है, यह केवल संन्यासियों के लिए है। तुम ईश्वर की ओर मन रखकर, अनासक्त भाव से स्त्री के साथ रह सकते हो। पर मन को ईश्वर में लगाने और अनासक्त बनाने के लिए बीच बीच में निर्जन वास करना चाहिए। ऐसे निर्जनस्थान में जाकर तीन दिन, या सम्भव न हो तो एक ही दिन अकेले रहते हुए व्याकुल होकर ईश्वर को पुकारना चाहिए।

एक या दो सन्तान हो जाने के बाद पति-पत्नी को भाई-बहन की तरह रहते हुए सतत भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हे प्रभो, हमें शक्ति दो ताकि हम संयम और पवित्रतापूर्ण जीवन बिता सकें।'

८. संसार में रहो पर संसारी मत बनो। जैसी कि कहावत है, 'साँप के मुँह में मेंढ़क को नचाओ। पर साँप उसे निगल न पाए।'

९. नाव पानी में रहे तो कोई हर्ज नहीं, पर नाव के अन्दर पानी न रहे, वरना नाव डूब जाएगी। साधक संसार में रहे तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु साधक के भीतर संसार न रहे।

१०. तुम संसार में रहकर गृहस्थी चला रहे हो इसमें हानि नहीं परन्तु तुम्हें अपना मन ईश्वर की ओर रखना चाहिए। एक हाथ से कर्म करो, और दूसरे हाथ से ईश्वर के चरणों को पकड़े रहो। जब संसार के कर्मों का अन्त हो जाएगा तब दोनों हाथों से ईश्वर के चरणों को पकड़ना।

११. निर्लिप्त होकर संसार में रहना कैसा है, जानते हो ? जैसे कमल की पँखुड़ियाँ या कीचड़ में रहनेवाली 'पाँकाल' मछली। जल मे रहते हुए भी कमल की पँखुड़ियों में जल नहीं लगता, कीचड में रहते हुए भी 'पाँकाल' मछली के अंग में कीचड़ नहीं लगता।

१२. तुम संसार में रहो भी तो उससे कोई विशेष हानि नहीं। मन को सदा ईश्वर में लगाये रखकर निर्लिप्त हो संसार के कर्मोंको किये जाओ। जैसे, अगर किसी को पीठ में घाव हो ,जाए तो वह लोगों से बातचीत या दूसरे व्यवहार आदि तो करता है, पर उसका मन सब समय उस घाव के दर्द की ओर ही पड़ा रहता है।

१३. यदि किसी में विवेक, वैराग्य और ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग रहे तो संसार में रहते हुए भी उसे कोई हानि नहीं होती।

१४. जब भगवान् ने तुम्हें संसार में ही रखा है तो तुम क्या करोगे ? उनकी शरण लो, उन्हें सब कुछ सौंप दो, उनके चरणों में आत्मसमर्पण करो, ऐसा करने से फिर कोई कष्ट नहीं रह जाएगा। तब तुम देखोगे कि सब कुछ उन्हीं की इच्छा से हो रहा है।

१५. गृहस्थाश्रम में रहकर भी ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। जैसे राजर्षि जनक को हुए थे। परन्तु कहने मात्र

से कोई जनक राजा नहीं बन जाता। जनक राजा ने पहले निर्जन में जाकर कितने वर्षों तक उग्र तपस्या की थी ! गृहस्थों को बीच-बीच में, कम से कम तीन ही दिन के लिए, निर्जन में जाकर ईश्वर-दर्शन के लिए प्रार्थना करनी चाहिए—इससे अत्यन्त लाभ होता है।

१६. एक बार कुछ ब्राह्म समाजवालों ने मुझसे कहा था, 'हम राजर्षि जनक का आदर्श मानते हैं। हम लोग उन्हीं की तरह निर्लिप्त रहकर संसार करेंगे।' मैंने उनसे कहा—जनक राजा का उदाहरण देना आसान है पर स्वयं जनक राजा के समान बनना इतनी सरल बात नहीं। संसार में रहकर निर्लिप्त रहना बड़ा कठिन है। जनक राजा ने पहले कितनी कठोर तपस्या की थी। तुम्हें इतनी कठोर तपस्या करने की जरूरत नहीं। परन्तु साधना करनी ही होगी, निर्जनवास करना ही होगा। निर्जन में ज्ञान-भक्ति प्राप्त करके फिर संसार में प्रवेश कर सकते हो। दही एकान्त में ही अच्छा जमता है, हिलाने-डुलाने-से नहीं जमता।

जनक निर्लिप्त थे इसलिए उनका एक नाम' विदेह था—विदेह यानी देह बोध रहित। वे संसार में रहते हुए भी जीवन्मुक्त थे। परन्तु देह बोध का नष्ट होना अत्यन्त कठिन है। इसके लिए बहुत साधना चाहिए। जनक राजा बड़े वीर थे। वे एक ही साथ दो तलवारें चलाते थे—एक ज्ञान की, दूसरी कर्म की।

१७. संसारी लोग हमेशा जनक राजा का उदाहरण देते हुए कहते हैं, 'जनक राजा ने संसार में रहकर ज्ञान प्राप्त किया था।' परन्तु समूची मानव जाति के

इतिहास में जनक राजा जैसा दूसरा एक भी उदाहरण नहीं मिलता। जनक राजा की बात अपवादात्मक है। साधारण नियम तो यही है कि कामिनी-कांचन का त्याग किये बिना ज्ञानलाभ नहीं होता। स्वयं को जनक राजा मत समझ बैठो। कितनी शताब्दियाँ बीत गयीं पर जगत् में दूसरा जनक राजा नहीं हुआ।

१८. तुम यदि संसार में निर्लिप्त भाव से रहना चाहो तो पहले तुम्हें निर्जन में रहकर साधना करनी चाहिए। निर्जन में जाना जरूरी है—एक साल के लिए छह महीने के लिए, एक महीने के लिए, या कम से कम बारह ही दिनों के लिए सही। एकान्त में रहते हुए ईश्वर का आन्तरिकता के साथ ध्यान-चिन्तन करना चाहिए—'इस संसार में मेरा कोई नहीं है। जिन्हें मैं अपना समझता हूँ, वे दो दिन के लिए हैं—सब चले जानेवाले हैं। भगवान् ही मेरे आत्मीयजन हैं। वे मेरे सर्वस्व हैं। हाय, उन्हें मैं कैसे पाऊँ ?' यही सब चिन्तन करते रहना चाहिए।

१९. जो लोग किसी को पूजा-उपासना करते देख उसकी खिल्ली उड़ाते हैं, धर्म की या धार्मिक व्यक्तियों की निन्दा करते हैं, साधना की अवस्था में ऐसे लोगों से दूर रहना चाहिए।

२०. यदि तुम हाथ में तेल लगाकर कच्चे कटहल को काटो तो तुम्हारे हाथ में उसका दूध नहीं चिपकेगा। इसी तरह यदि ब्रह्मज्ञान लाभ कर लेने के बाद संसार में रहो तो तुम्हें कामिनी-कांचन की बाधा नहीं होगी।

*